राष्ट्र-निर्माता

तिलक

[illegible]

एक विचार

[illegible] वर्षों के सबसे वृद्ध [illegible] श्री तिलक के समकालीन हैं।]

मैंने श्री कृपा शंकर शर्मा की लिखी लोकमान्य श्री [illegible] की जीवनी, आद्योपान्त पढ़ी। बहुत अच्छी बनी [illegible] आवश्यक उल्लेखनीय बातें लिख दी हैं। [illegible] [illegible]न्य के बड़े मित्र श्री नरसिंह केलकर की लिखी [illegible] जीवनी, तीन बड़ी बड़ी जिल्दों में छपी है। [illegible] उसमें बहुत सी अनावश्यक बातें लिखी हैं; उनको पढ़ते [illegible] पाठक ऊब जाता है। सब समाज 'आक्षेपेन मध्यमा वृत्ति, [illegible] वर्जयेत्' सो इस प्राचीन आदेश का कृपाशंकर [illegible] ठीक ठीक पालन किया है।

२-११-५७

डा० भगवानदास

भारतरत्न

कृपाशंकर शर्मा एम० ए०, [illegible]

साहित्यरत्न, [illegible]

[illegible] भाग,

[illegible]

प्रथम संस्करण

मूल्य २॥)

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

मुद्रक—
प्रकाश प्रिंटिंग प्रेस, अलीगढ़।

भूमिका

तिलक नवीन भारत के महान राष्ट्र निर्माताओं में हैं, यह कहने से उनके महत्त्व का पता नहीं लगता। १८५७ के बाद भारत के राष्ट्रीय गगन में जो सबसे बड़े पुरुष आते हैं उनमें गाँधी जी के साथ साथ तिलक का नाम लिया जायगा। गाँधी ने भारत की स्वतंत्रता के लिए देश का महान पथ-प्रदर्शन किया और भारत को स्वतंत्र हुए अपनी आँखों से देखा। अभी हाल ही मे वह हमारी आँखों से ओझल हुए। उनके कार्य हमारी स्मृति में बिल्कुल ताजे हैं, जब कि तिलक को हमारे बीच से गये साढ़े तीन दशाब्दियाँ हो रही हैं। इन सब कारणों से कितने ही लोग गाँधी जी के सामने तिलक के काम के महत्त्व को न समझ पाये, लेकिन इतिहास ऐसी गलती नहीं कर सकता २०५६ में दोनों ही के महान कार्यों का निष्पक्ष मूल्यांकन होगा, उस समय यह कहना मुश्किल हो जायगा कि दोनों में किसका काम बड़ा है।

इसमें शक नहीं कि जिस अहिंसा और सत्याग्रह का सहारा लेकर गाँधी जी ने भारत की मुक्ति का महान संग्राम छेड़ा उस के लिये यही रास्ता सबसे उपयुक्त था। अंग्रेजों ने उसे दबाना

चाहा और कितनी ही बार पशुबल का प्रयोग किया तो भी संसार की मानवता का उनको बहुत भय था और जलियाँवाला या बलिया के अत्याचारों को छोड़ कर उन्हें खुल खेलने की बहुत कम हिम्मत हुई। गाँधी जी ने जनता को उठाया, हर एक भारतीय के हृदय में चेतना पैदा की, मुक्ति युद्ध में सैकड़ों-हज़ारों नहीं लाखों नर नारी शामिल हुए। जन शक्ति के महत्व को तिलक मानते थे। उन्होंने अपने आरम्भिक राजनैतिक जीवन से ही इस महाशक्ति को उद्‌बुद्ध करने की कोशिश की। यदि गांधी जी को इसमें उनसे भी अधिक सफलता प्राप्त हुई तो उसका कारण यह था कि तिलक नींव डालने वाले थे और गाँधी जी को उस नींव पर इमारत खड़ा करने का अवसर मिला।

अहिंसा और सत्याग्रह का अपने स्थान पर बड़ा महत्त्व है और इन दोनों साधनों का गाँधी जी ने बड़ी दक्षता के साथ उपयोग किया। पर यह कहना वास्तविकता का अलाप करना है कि केवल अहिंसा और सत्याग्रह के कारण ही अंग्रेज़ भारत छोड़ कर चले गए। अंग्रेज़ भारत के सैनिक बल से भी भयभीत होने लगे। प्रथम विश्व-युद्ध में भारतीय सेना में देश की स्वतंत्रता के भाव बहुत कम या नहीं से थे। महायुद्ध के समाप्त होते ही असहयोग का प्रचंड आन्दोलन छिड़ गया और भारतीय भी इसके प्रभाव में आये बिना नहीं रहे। १६३० में पेशावर में गढ़वाली सैनिकों ने अंग्रेज़ों के हुकम पर अपने

देश भाइयों के ऊपर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। अंग्रेज़ों ने माना कि १८५७ के बाद यह पहला मौका था, जब कि भारतीय सेना ने अपने अफसरों की आज्ञा नहीं मानी। बहुत से सैनिक चाहते थे, कि अपनी बन्दूकों का उपयोग अंग्रेज़ों के खिलाफ़ इस्तेमाल करें। लेकिन उनके नेता गाँधी जी से प्रभावित थे और यह भी जानते थे कि एक फलतः यदि हथियार का इस्तेमाल भी करें तो उसे सफलता नहीं मिलेगी।

१९३० में पेशावर में गढ़वाली सैनिकों ने निर्भीकता और स्वदेश प्रेम का परिचय दिया उसके लिये देश उन्हें सदा स्मरण रक्खेगा। लेकिन उनके इस कार्य का प्रभाव केवल पेशावर या १९३० तक सीमित नहीं रहा। अन्य भारतीय सेनाओं और सैनिकों के सामने गढ़वालियों ने एक उज्ज्वल आदर्श रक्खा। द्वितीय विश्व युद्ध में सैनिक इस आदर्श से प्रेरित हुए थे। इटली में युद्ध बन्दी बने भारतीय सैनिकों के मन में गढ़वाली सैनिकों की क़ुर्बानियों ने प्रेरणा दी। अब भारतीय सेना में केवल सिपाही नहीं थे, बल्कि काफ़ी संख्या में अफ़सर भी थे। सैनिक और अफसर दोनों अपने देश की मुक्ति के लिये सब तरह की क़ुर्बानी करने के लिये तैयार थे। इसके बाद नेताजी जर्मनी से पूर्वी रणक्षेत्र में पहुँचे और उन्हें युद्ध बन्दी बने भारतीय सैनिकों की आज़ाद हिन्द सेना संगठित करने में बड़ी सफलता मिली।

लोकमान्य अंधाधुंध बल प्रयोग को सही राजनीति नहीं

मानते थे लेकिन सैनिक बल के महत्त्व को अच्छी तरह से समझते थे। वह यह भी नहीं पसन्द करते कि बिना पूरी तैयारी छिट-पुट कुछ सैनिक अपने हथियारों का अँग्रेजों के खिलाफ इस्तेमाल करें। गढ़वाली सैनिकों की बग़ावत या नेता जी का आज़ाद हिन्द फौज का संगठन तिलक की परम्परा में था गढ़वाली सैनिकों के नेता तिलक से अपरिचित नहीं थे यद्यपि उन्होंने तिलक युग के बाद होश सँभाला था। नेताजी तो तिलक के विचारों से प्रभावित थे।

भारतीय-नव सैनिकों ने अँग्रेजों के खिलाफ खुल्लम-खुल्ला विद्रोह करके दिखा दिया कि अब भारतीय सैनिक अपने देश और उसकी आज़ादी के लिये भी मर सकते हैं। अँग्रेजों के लिये यह सबसे बड़ी चिन्ता की बात थी। प्रायः सौ वर्ष पहले मार्क्स ने भविष्य वाणी की थी कि जिन हथियारों को अँग्रेज़ भारतीयों के हाथ में दे रहे हैं और उनके इस्तेमाल का जो ज्ञान उन्हें मिल रहा है उसे एक दिन अपनी आजादी के लिए इस्तेमाल करेंगे। द्वितीय विश्व युद्ध में अँग्रेज़ों ने मजबूर किया कि भारतीयों के लिये सेना के सभी दरवाज़े खोल दें। इस तरह हमारे नौजवानों के संख्या और बल में कम ही सही, लेकिन आधुनिक ढंग की सेना तैयार हो गई थी। यह देश की आज़ादी के लिये अपने हथियार और बल का उपयोग करने तिलक के पथ पर चलने वाले थे। इसके लिये यह कहना गलत होगा कि तिलक के उठ जाने के साथ उनका दिखलाया मार्ग

खत्म हो गया।

यह तो कहने की ज़रूरत ही नहीं कि तिलक बहुत दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और राष्ट्र नायक थे। उन्होंने सिर्फ देश के सामने मार्ग दिखलाने का ही काम नहीं किया बल्कि आगे आने वाली पीढ़ी को स्वयं सोचकर टेढ़े मेढ़े रास्तों में से अपने लिये उचित पथ खोज निकालने का पाठ पढ़ाया। वह श्रद्धालु भक्त नहीं थे बल्कि बुद्धि और अनुभव के ज़बरदस्त पक्षपाती थे। तिलक के गुणों को राष्ट्र के जीवन के अनेक क्षेत्रों में हम उपयोगी पाते हैं। अपने समय की हर एक राजनीतिक और दूसरी राष्ट्रीय महत्त्व की बातों को वह बड़ी गम्भीरता से सोच सकते थे।

नई पीढ़ी अभी हाल की सफलताओं के कारण तिलक को, तिलक के महत्त्व को पूरी तरह से जान नहीं पाती। कुछ समझते हैं कि वह दूर किसी प्राचीन काल के जगमगाते नक्षत्र थे, दूसरे उन्हें महाराष्ट्र का महान नेता बनाना चाहते हैं, लेकिन तिलक किसी एक प्रदेश के नेता नहीं थे। उनके जीवन में सारे भारत ने उन्हें अपना महान नेता माना था। दूर के नक्षत्र की बात की सत्यता तो तब मालूम होगी जब दूसरे नेता भी काल में हम से उतने ही दूर हो जायँगे।

हिन्दी में छोटी मोटी तिलक की जीवनियाँ हैं, पर यह खटकने वाली बात थी कि कोई अच्छी और विस्तृत जीवनी हिन्दी में नहीं लिखी गई थी। श्री कृपाशंकर जी शर्मा ने अपने इस प्रयत्न से हिन्दी के एक बड़े अभाव को दूर किया

इस जीवनी के लिखने में उन्होंने काफी परिश्रम किया और लोकमान्य के जीवन के सम्बन्ध की अंग्रेज़ी और मराठी सामग्री का अच्छी तरह उपयोग किया। ऐसी सुन्दर और आवश्यक पुस्तक लिखने के लिये हमें लेखक का कृतज्ञ होना चाहिये।

प्रयाग राहुल सांकृत्यायन

२८-१२-५५

विषय-सूची

	विषय	पृष्ठ
१	अंतिम समय	१
२	पिता और पितामह	११
३	गदर की गोद में पला बालक	१५
४	ढहता हुआ वातावरण	३१
५	न्यू इंग्लिश स्कूल द्वारा राष्ट्रीय बीज बिखेरना	३६
६	पहला राजनैतिक क़ैदी	४३
७	फर्ग्युसन कालेज द्वारा राष्ट्रीय जड़ें जमाना	५६
८	वही पुरानी कहानी-आपस की फूट	५८
९	कलह पर कलह और त्याग पत्र	६३
१०	रिश्वती क्राफर्ड	७०
११	तिलक के दोनों हाथ—केसरी और मराठा	७७
१२	कर्मयोगी	७९
१३	राष्ट्रीयता का उत्सवों द्वारा पुनुरुत्थान	११२
१४	पूने में सार्वो प्लेग	११६
१५	राजद्रोही या राष्ट्र प्रेमी ?	१२१
१६	काला कानून	१२७
१७	कायाकल्प	१२९
१८	शत्रुओं के जाल में	१४२
१९	राष्ट्रीयता का उदय	१४८
२०	सूरत कांग्रेस	१६४
२१	निरपराधी का अपराध	१७४
२२	होम रूल का जन्मदाता	१८१
२३	नीति बड़ी या न्याय ?	२०८
२४	राष्ट्र का तीर्थ-जलियां वाला बाग	२१४
२५	प्रकांड पंडित	२२३
२६	राजनीतिज्ञों का सम्राट	२२८

अन्तिम समय

हमारे राष्ट्र-निर्माता तिलक थे, राष्ट्र-पिता गांधी थे और राष्ट्र-उन्नायक नेहरू हैं। भविष्य में इतिहासकार जब सन् १९०० से १९६० का संशोधित संस्करण लिखने बैठेगा तब इनका यही रूप निखरेगा। तिलक ने राष्ट्र को चेतना दी, स्फूर्ति दी; गांधी ने बल दिया, संबल दिया; और नेहरू ने उद्योग की उन्नति की सीढ़ी दी।

हर देश में राष्ट्रीयता के उदय होने का अपना समय रहा है, प्रथम राष्ट्रीय-किरण के फूटने का अलग अलग समय रहा है। पर यह राष्ट्रीय-किरण फूटी अवश्य है। कहीं जल्दी, कहीं देर में। रूस में लैनिन, अमरीका में लिंकन, और भारत में तिलक का उदय इस चिर-पुरातन राष्ट्रीय-किरण का नवीनतम इतिहास है।

तिलक अपने देश के लिये पैदा हुए थे। अपने देश-वासियों के सिले हुए मुँह को उन्होंने खोल दिया, उनकी रगों में अपने खून की बूँदें डाल दीं, उनके सिकुड़े विचारों को पैर फैलाने को ज़मीन दी। वह लोकमान्य बन गये। लोकमत पर उन की अपार श्रद्धा थी, अटल विश्वास था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध उन्होंने लोकमत का शस्त्र उठाया। सोये हुए जनमत को जगाया। इस शस्त्र के सामने, इस शस्त्रधारी के सामने ब्रिटेन का खूनी हाथ उठा का उठा रह गया। न्याय की दुहाई देने वाले ब्रिटेन से इन्होंने न्याय माँगा। ब्रिटेन के न्याय से ब्रिटेन को अपराधी सिद्ध किया। ब्रिटेन की जनता को, भारत की जनता को इन्होंने न्यायाधीश के पद पर बैठाकर इस अपराधी के लिये सज़ा माँगी। न्याय भय से कांपने लगा। आज न्याय की आत्मा पर चोट हुई थी। तिलक ने कहा—"भारतवासी स्वराज्य केवल अपने लाभ के लिये नहीं माँग रहे हैं, वरन ब्रिटिश साम्राज्य के लाभ के लिये भी।"

सन् १६२० में तिलक की ख्याति आकाश को छू चुकी थी। नये और पुराने विचार वाले, गरम और नरम दल वाले, युवक और वृद्ध, वह सबके ऊपर छा गये थे। सम्पूर्ण भारत उनके रंग में रँग चुका था। सन् १८६५ में इन्होंने स्वराज्य का जो नारा लगाया था, १६०६ की कांग्रेस में और भारत सरकार के १६१६ के एक्ट में उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी। इस तरह कांग्रेस इनसे ११ वर्ष पीछे थी।

२३ जुलाई सन् १९२० को तिलक की ६४ वीं वर्षगांठ पड़ी। देश के कोने कोने से बधाई के संदेश आने लगे। तार और पत्रों की भरमार हो गई। तिलक के घर आकर लोगों ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान प्रकट किया। उन्हें एक लाख रुपये की थैली भेंट की गई। इस अवसर पर तिलक ने जो भाषण दिया उसमें उनके पिछले ४० वर्षों का संघर्ष गूँज रहा था। उनकी यातना की, उनकी पीड़ा के वैभव की कहानी प्रतिध्वनित हो रही थी। उन्होंने कहा—"मेरे मन में इस आपेक्षाकृत आनंद की घड़ियों की स्मृति नहीं जागती है वरन जीवन के तूफान और यातना के दृश्य सामने आते हैं।"

वह अभी मलेरिया से उठे थे कि एक दिन बम्बई के समुद्र तट पर हवा खाने चले गये। ठंड लग गई और बुखार ने पकड़ लिया। २६ जुलाई को वह साधारण बुखार निमोनिया मे परिणित हो गया। क्रूर-काल उनसे आँख मिचौनी खेलने लगा। देश-विदेश के समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ कि तिलक का जीवन संकट में है। पर तिलक को अपने ऊपर विश्वास था। वह कहने लगे कि अभी पाँच वर्ष तक तो मैं मरता नहीं। उन्हें आशा थी कि वह इस बुखार की बढ़ती-लहर को खे देंगे। पुत्र देखने आया तो उससे बोले कि यह तुम्हारे यहाँ आने का बहाना है। लड़कियों से बोले—पिता के घर से इतना मोह ठीक नहीं। बुधवार २८ जुलाई को उनकी दशा कुछ सुधरती सी मालूम पड़ी, परन्तु फिर जो बेहोशी आई तो

शनिवार २१ जुलाई तक होश नहीं आया। उसी रात साढ़े दस बजे एकाएक श्वास की गति मंद सी होने लगी और १२ बज कर ४० मिनट पर उन्होंने इस नश्वर-शरीर का त्याग किया। महात्मा गांधी तिलक के पास बराबर बैठे रहे, पर वह उनको न बचा सके। देश में जगह जगह पर लोग पूजा कर रहे थे, पाठ कर रहे थे—पर वह उनको न बचा सके। 'सरदार गृह' का कोना कोना दर्शकों से भरा हुआ था, पर उन सब के देखते देखते लोकमान्य के प्राण-पखेरू उड़ गये। मानव विवश था। राष्ट्रीयता विकल थी। मनुष्य इसी सीमा को नहीं लांघ पाया था। युगों से वह इस दीवार पर अपना सिर पटक रहा है, पर कोई द्वार मिलता ही नहीं।

यह दुखद समाचार गिरे हुए पानी की तरह फैल गया; और फैलता ही गया। 'सरदार गृह' के चारों ओर लाखों आदमी एकत्रित हो गये। मूसलाधार वर्षा हो रही थी, पर लोगों की भीड़ कम न होती थी।

कितनों ने उपवास किया, कितनों ने प्रार्थना की। कितने ही उस महापुरुष के अन्तिम दर्शन के लिये लालायित हो उठे। अतः तिलक का शव एक ऐसे स्थान पर रक्खा गया जिससे वह सब को दिखाई पड़ने लगा।

पूना-निवासी सहस्त्रों की संख्या में रोते हुए जैसे थे वैसे ही चल पड़े। पूना से अनेक नई गाड़ियाँ छोड़नी पड़ीं। न चाहते हुए भी सरकार को यह सब प्रबन्ध करना पड़ा। जीते

जी तिलक ने सरकार के घुटने तोड़ दिये थे, मरने पर—उन की ख्याति देखकर—सरकार का दम घुटने लगा। तिलक मर कर विजयी हुए थे। आज सरकार को अपनी पराजय का अनुभव हो रहा था। आज सरकार को ऐसा लग रहा था जैसे ऊँचे पहाड़ पर से उन्हें किसी ने नीचे ढकेल दिया हो। पूरे बम्बई शहर में हड़ताल हो गई थी। सभी शोक-मुद्रा में बैठे हुए थे। आज हड़ताल कर के, कारोबार बन्द कर के लोगों को अनायास एक नया मार्ग दिखाई पड़ा। आज उनको मालूम हुआ कि यदि वह सब अपना अपना काम बन्द करदें, हड़ताल करदें—तो सरकार कुछ ही दिनों में ठंडी हो जायगी। आज उन्हें एक अमोघ शस्त्र मिल गया था जिसे आगे चल कर गांधी ने हाथ में लिया और सरकार के छक्के छुड़ा दिये।

सरदार-गृह के चारों ओर अपार जन संख्या उमड़ आई। महात्मा गांधी, खापरडे, लाला लाजपतराय और डा० मुँजे आदि नेता वहाँ पहले से ही उपस्थित थे। कुछ ही देर में तिलक के पुत्र और सगे-संबन्धी भी वहाँ आ गये। जवाहरलाल नेहरू उसी दिन सबेरे गांधी के सत्याग्रह में भाग लेने बम्बई पहुँचे थे, पर अब वह गांधी के साथ लोकमान्य की शवयात्रा में भाग ले रहे थे। तिलक के पुत्र तथा अन्य संबंधियों ने अर्थी में कंधा लगाया।। चित-पावन ब्राह्मण की अर्थी में कंधा देने के लिये जब गांधी जी झुके तो किसी ने उन्हें रोका। वे एक क्षण रुके और कहा—"जनता के सेवक की जात-पाँत नहीं होती।"

उन्हें टोकने वाला हकबका कर रह गया। गांधी जी ने भी अर्थी कंधे पर उठाई। मौलाना शौकत अली, सरला देवी, तथा लाला लाजपतराय जुलूस के साथ धीरे धीरे चल रहे थे। शव के साथ पचास भजन-मंडली गाते हुए चल रही थीं। 'लोकमान्य की जय' के नारे से आकाश हिलने लगा।

सायंकाल छः बजे अर्थी चौपाटी पर पहुँची। चौपाटी में शव के जलने का यह पहला अवसर था। चंदन की चिता तैयार थी। उन का शव उस पर रक्खा गया। शव के साथ जो जुलूस चला था वह डेढ़ मील लम्बा था। उसमें दो लाख आदमी थे। शव पद्मासन की मुद्रा में रक्खा गया और चारों ओर से पुष्पों से ढक दिया गया। जभी उनके पुत्र दाह संस्कार करने को आगे बढ़े उसी समय 'तिलक महाराज की जय' से आकाश गूँज उठा। तदन्तर लाला लाजपतराय ने एक महत्व पूर्ण भाषण दिया। आग में लपटें उठीं और तिलक का शरीर पंच भूतों में मिल गया। लोग एक दूसरे से पूछ रहे थे—"अब तिलक के बाद भारत का नेतृत्व कौन करेगा"—ऊँची ऊँची लपटों की रोशनी चारों ओर फैल गई, पर लोगों की आँखों के सामने अभी अँधेरा ही था।

तिलक की मृत्यु पर गांधी जी अनायास बोल उठे—"मेरा सबसे मज़बूत सहारा टूट गया।" २६ जुलाई सन् १६२० को तिलक ने यह अंतिम शब्द कहे थे—"जब तक स्वराज्य नहीं मिलता, भारतवर्ष की उन्नति नहीं हो सकती। वह हमारे जीवित रहने

के लिए आवश्यक है"। तिलक की मृत्यु पर राष्ट्र को संबोधित करते हुए, गांधी जी ने 'यंग इण्डिया' में लिखाः—

"लोकमान्य तिलक आज हमारे बीच नहीं हैं। वह नहीं हैं यह विश्वास करना ही कठिन है। वह जनता के ऐसे आवश्यक अङ्ग बन गये थे। हमारे युग के किसी व्यक्ति का इतना प्रभाव नहीं था जितना कि लोकमान्य का। सहस्त्रों देश वासी उनमें असाधारण भक्ति रखते थे। वह अपने राष्ट्र के निरपेक्ष आराध्य देव हो गये थे। उनका वाक्य उनके लिये वेद वाक्य हो गया था। मनुष्य में जो सूरमा था आज भूमि सात हो गया। सिंह नाद आज विलीन हो गया।

लोकमान्य के समान स्वराज्य का मंत्र किसी ने भी इस लगन और दावे के साथ नहीं सिखाया था। देशवासियों को इसी लिए उन पर अटूट श्रद्धा थी। उनका साहस अदमनीय रहा। वह घोर आशा वादी थे। अपने जीवन काल में ही स्वराज्य को पूर्ण व्यवस्थित रूप में देखने की आशा रखते थे। इसमें सफलता नहीं मिली तो इस में उनका दोष नहीं था। अवश्य ही वह स्वराज्य को कई वर्ष पहले हमारे निकट ले आये। हम लोग जो अब पीछे रह गये हैं, यह उनका उत्तर-दायित्व है कि दुगुने उत्साह के साथ कम से कम समय में इस उद्देश्य की पूर्ति करें।

लोकमान्य नौकरशाही के कठोर शत्रु थे, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अँग्रेज़ों अथवा अँग्रेज़ी राज्य से घृणा करते थे।

मैं अँग्रेजों को चिताये देता हूँ कि वह उन्हें अपना शत्रु समझने की भूल न करें।

मुझे पिछले काँग्रेस के अधिवेशन पर हिन्दी के राष्ट्र भाषा होने के सम्बन्ध में उनका दिया हुआ विद्वत्तापूर्ण आशुभाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह अभी काँग्रेस पंडाल से आये ही थे। हिन्दी पर उस शान्त तथा मधुर भाषण को सुन कर कितना आनन्द मिला। अपने इस भाषण में उन्होंने अँग्रेज़ों की भाषा सम्बन्धी नीति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। अपनी इंगलैंड यात्रा में ब्रिटिश लोक तंत्र पर उन्हें श्रद्धा हो उठी, यद्यपि अँग्रेज़ी न्याय का उन्हें कटु अनुभव था……मैं उस सब का वर्णन इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि उनसे सहमत हूँ—मैं सहमत नहीं हूँ—पर यह दिखाने के लिये कि उन्हें अँग्रेज के प्रति द्वेष नहीं था। किन्तु उन्हें भारत की अथवा भारतीय साम्राज्य की निम्न स्थिति असहनीय थी। वह तो भारत को अविलम्ब बराबरी की श्रेणी में देखना चाहते थे, क्यों कि वह उसका जन्म सिद्ध अधिकार है।"

लोकमान्य के निधन पर भारत के कोने कोने में शोक सभाएँ हुईं। पूना सूना दिखाई पड़ रहा था। उसका अनमोल हीरा उससे छिन गया था। ४ अगस्त को पूना में लोकमान्य के फूल आये। स्टेशन पर अपार जन समूह था। तिलक महाराज की जय से आकाश गिरा पड़ रहा था। तिलक के घर आने के बाद इन

फूलों का विमान निकला। यह विमान पूरे नगर में घूमा। जहाँ जहाँ यह विमान गया लोगों ने अपने सिर से टोपियाँ उतारलीं। सरकारी कर्मचारी और अंग्रेज़ों ने भी अपनी अपनी टोपी उतार लीं। आज देश का निधन हो गया था। सब की टोपी नीचे गिर गई थी।

डा० एम० एस० अणे ने लिखा था—"तिलक की अंत्येष्टि क्रिया पर गांधी ने केवल उनकी अर्थी को ही अपने कंधों पर नहीं लिया वरन उनके छोड़े हुए राजनैतिक नेतृत्व का भार भी उन्होंने सँभाला। और कितनी महानता से उन्होंने यह कार्य किया! दोनों के कार्य करने के साधन, कार्य करने की प्रणाली भिन्न थी पर उनके उद्देश्य में पूरी तरह से साम्य था। और दोनों का आधार एक था—जनता के आँसू, जो और माँगती थी, कुछ और माँगती थी।" (१२-८-१९५५ के मराठा से)

इतिहास की पुनरावृत्ति प्रसिद्ध है। गांधी ने जो शब्द तिलक के निधन पर कहे थे, वैसे ही बहुत कुछ शब्द नेहरू ने गांधी के निधन पर कहे। गांधी ने जो शब्द तिलक के निधन पर कहे थे उनमें से कुछ शब्द गांधी के अपने जीवन में चरितार्थ हुए। तिलक की घृणा का पात्र अंग्रेज़ कभी न था। तिलक को जनता अपना आराध्य देव समझती थी तिलक के शब्द जनता के लिये नियम थे, कानून थे। गांधी के लिये यह सब बातें पूर्ण रूप से चरितार्थ थीं। तिलक की पार्टी में होना लोगों के लिये गौरव की बात थी।

मौलाना शौकत अली ने उनकी मृत्यु के बाद कहा था—"इसके पहले कि मैं कुछ कहूँ मैं १००वीं बार यह फिर कहना चाहता हूँ कि मुहम्मद अली और मैं अब भी तिलक की पार्टी के अन्तर्गत हैं।"

लोकमान्य लोकप्रिय थे। लोग उन पर जान देते थे। बिट्ठल भाई पटेल जैसे महान नेता की अंतिम इच्छा यह थी कि देहावसान होने पर उनका चौपाटी में उसी स्थान पर दाह संस्कार किया जाये जहाँ कि लोकमान्य का शरीर पंचभूतों में मिला था। कैसी विलक्षण अभिलाषा थी! उनके साथी मर कर भी उनके साथ ही रहना चाहते थे।

तिलक के नाम पर सहस्रों स्मारक देश भर में उठ गये हैं। स्कूल, कालेज, सड़क, नगर आदि। अप्रैल सन् १९२१ से जून सन् १९२१ तक गांधी गांव गांव में, नगर नगर में तिलक की स्मृति रखने के लिये गये। उन्होंने कहा—"वास्तव में यदि किसी के जीवन का स्मारक रखना है तो उसके जीवन के ध्येय को पूरा करना है। वास्तव में यदि हमें बाल गंगाधर तिलक का स्मारक रखना है—जिसको भारत लोकमान्य कह कर प्रसन्न होता था और होता है तो स्वराज्य की स्थापना कीजिये, तभी सदा के लिये उनकी याद बनी रहेगी।" गांधी ने इसके लिये 'तिलक मैमोरियल स्वराज्य फंड' खोला। इतना बड़ा फंड पिछले सौ वर्षों में भी न खुला था। इसका चंदा ९९,३७,१४५ रुपया एकत्रित हुआ। इस महान नेता के नाम पर इतना रुपया जमा हो जाना

कोई बड़ी बात न थी। वे भारत के निर्माता थे। सेन्ट निहालसिंह ने उनको श्रद्धांजलि देते हुए कहा था—"बिना तिलक के भारतवर्ष संभवतः अबतक पेट के बल रेंगता होता—सिर में धूल भर कर और हाथ में प्रार्थना पत्र लेकर।"

पिता और पितामह

महाराष्ट्र का कोंकण प्रान्त प्रकृति की गोद में पला था। इसके कोने कोने में सृष्टि ने अपना सौन्दर्य बिखेर दिया था। रत्नगिरि में भी प्राकृतिक वैभव की कमी न थी। तिलक वंश का मूल उद्गम स्थान रत्नगिरि जिले में चिखलगाँव था। यह दापोली तहसील में था।

तिलक चित्पावन ब्राह्मण थे। इन ब्राह्मणों का कोंकण में अब भी बाहुल्य है। तिलक के प्रपितामह केशवराव थे, और यह चिखलगांव के खोत थे। यह खोत कोई और न थे पटवारी थे। समय ने संभवतः इन में और इन के कार्य में कुछ हेर-फेर करा दिया था। संभवतः आज से दो सौ वर्ष बाद लेखपाल शब्द के सामने यह पटवारी शब्द भी कुछ खोया हुआ सा मालूम पड़ेगा। देश और समाज के इतिहास के साथ शब्दों का इतिहास भी बदलता रहता है।

तिलक के प्रपितामह एक कर्मनिष्ठ एवं उद्योगी पुरुष थे। वह अपने सतत परिश्रम से ही अंजनवेल के तहसीलदार हो गये। उन के तहसीलदार होने पर घर में ऐश्वर्य दिखाई देने लगा। अन्न-वस्त्र की चिन्ता लुप्त हो गई। केशव राव के दो विवाह हुए थे। पहली पत्नी रुक्मिणी बाई से रामचन्द्र राव और काशीनाथ दो पुत्र हुए। इन की असामयिक मृत्यु के बाद दूसरी पत्नी दुर्गाबाई आईं। इन से कोई संतान न थी।

तिलक के पितामह रामचन्द्र राव न अधिक विद्वान थे और न अधिक प्रतिभावान ही थे। बालपन में ही इनका विवाह हो गया था। जब यह १८ वर्ष के थे तब इनके यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। इनका नाम गंगाधर राव रक्खा गया। यही तिलक के पिता थे।

दापोल में मराठी पाठशाला की स्थापना हुई। गंगाधर ने इसी पाठशाला में शिक्षा पाई। यहाँ की शिक्षा समाप्त कर आगे पढ़ने की अभिलाषा हुई। दरिद्रता ने उनकी राह को रोका। फिर भी अपने साहस को समेट तिलक के पिता पूना आये और वहाँ केशव राव भवालकर की पाठशाला में अँग्रेजी पढ़ने लगे। सन् १८३७ में गंगाधर की माँ इनसे मिलने पूना आई। पुत्र गंगाधर के भाग्य में माँ के यह अन्तिम दर्शन लिखे थे। माँ पुत्र से मिलकर नासिक वापिस जा रही थी कि मार्ग में महामारी ने इन्हें अपना ग्रास बना लिया। पत्नी के देहावसान की सूचना पाते ही रामचन्द्र राव पागल से हो गये। विरक्त होकर चित्रकूट चल दिये। वहाँ कुछ

समय रह कर वे काशी चले आये यहाँ इन्होंने सन्यास ले लिया और सन् १८७२ में समाधि ले ली।

बालक गंगाधर पर कुटुम्ब को संभालने का सब भार आ पड़ा। वह और शिक्षा लेना चाहते थे, अँग्रेजी में बी० ए० पास करनी चाहते थे, पर परिस्थिति कुछ और चाहती थी। उन्हें परिस्थिति के आगे झुकना पड़ा। विवश होकर पढ़ना छोड़ कर शिक्षा विभाग में नौकरी करली। अपने हिन्दू समाज में नौकरी के लगते ही विवाह होना भी कुछ आवश्यक समझा जाता है। संभवतः नौकरी भी विवाह के लिये ही की जाती है। अतएव इनका विवाह भी हो गया। गंगाधर की पत्नी का नाम पार्वती बाई था। यही तिलक की माँ थी। सन् १८४६ में इनकी काशीबाई नामक पुत्री का जन्म हुआ। इसके पश्चात् दो पुत्री और जन्मीं। तत्पश्चात् सन् १८५६ में बलवंत राव तिलक का जन्म हुआ।

अभी मैंने ऊपर कहा है कि तिलक के पिता ने नौकरी कर ली। यह नौकरी क्या थी, कितने की थी? आरम्भ में इन्हें पांच रुपये महीने मिलते थे। यह विस्मय की बात नहीं, यथार्थ है। बड़ी नौकरी किसी भारत वासी को मिल ही कैसे सकती थी। उस पर अंग्रेजों का एकाधिपत्य अधिकार था। आई० सी० एस० की परीक्षा में भारतवासी बैठ ही न सकते थे। जब द्वार ही न था, तो अन्दर जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। सभी भारतवासियों की यही दशा थी। कौन किससे कहे। इसी अनीति को समाप्त

करने के लिये तिलक का जन्म हुआ।

कुछ समय पश्चात् मालवण में तिलक के पिता को दस रुपये महीने मिलने लगे। फिर इनका तबादला चिपूलन में हुआ, यहाँ इन्हें पन्द्रह रुपये मिलने लगे। अंत में पच्चीस रुपये महीने पर यह रत्नगिरि भेज दिये गये। उस समय न तो आजकल के से ट्रेनिंग कालेज थे और न कोई वेतन में वार्षिक-वृद्धि का नियमित रूप था। शिक्षा की वृत्ति निरंतर बनी रहने से तिलक के पिता अपने अवकाश के समय गणित और संस्कृत इन दोनों विषयों का अध्ययन करते रहे। संस्कृत के अध्ययन के कारण लोग इन्हें गंगाधर पन्त की अपेक्षा गंगाधर शास्त्री कहने लगे। धीरे-धीरे आसपास के लोग शास्त्री जी की विद्वत्ता को मानने लगे। वास्तविक नाम की अपेक्षा लोग इन्हें शास्त्री जी के नाम से ही जानते थे। अंग्रेज़ी में बी० ए० न होने की कमी इन्हें बराबर खटकती रही। यहाँ तक कि यह कमी इनकी उन्नति में बाधक भी रही। फलतः यह जीवन भर साधारण योग्यता का ही काम करते रहे। आरंभ में यह मराठी-शिक्षक थे, फिर असिस्टैन्ट डिप्टी इन्सपेक्टर हो गये। इन्होंने साधारण ग्रन्थ रचना भी की जिनमें इंगलैंड का इतिहास, अंक-गणित और लघु व्याकरण उल्लेखनीय हैं।

तिलक के पिता की वसीयत में लगभग ८२६७ रुपये दिखलाये गये हैं। इस में से एक तिहाई रुपया उन्होंने अपने छोटे भाई राम चन्द्र तिलक को और शेष दो तिहाई अर्थात लगभग ५००० रुपये अपने पुत्र तिलक को दिये थे। उन्होंने वसीयत में लिखा था कि उनके

बाद उनकी सारी जायदाद उनके छोटे भाई के हाथ में रहे और अज्ञान बालक पुत्र को बी० ए० तक पढ़ाया जाय। पुत्र के आयु के हो जाने पर चचा-भतीजे जहाँ तक हो सके एकत्र ही रहें। यदि ऐसा न हो तो कोंकण की सम्पूर्ण जायदाद दोनों आपस में बराबर बराबर बाँट लें। इस वसीयतनामे में यह भी लिखा था—"मेरे पुत्र बाल गंगाधर तिलक की बी० ए० की परीक्षा होने तक यदि किसी प्रकार की सहायता आवश्यक हो तो वह भी उक्त रुपयों में से देदी जाय।"

ऊपर के शब्दों से स्पष्ट है कि तिलक के पिता को इस बात का विश्वास था कि उनका पुत्र तीव्र-बुद्धि है। इससे यह भी स्पष्ट है कि तिलक के पिता को बी० ए० पास न होने के कारण मार्ग में जो रोड़े मिले थे, वह नहीं चाहते थे कि वह रुकावटें उनके पुत्र को देखने को भी मिलें।

गदर की गोद में पला बालक

जिस समय तिलक का जन्म हुआ उस समय गदर की तैयारी हो रही थी। ब्रिटिश सत्ता को, ब्रिटिश साम्राज्य को उलटने के लिये वीरों ने एक बार फिर कमर कसी। हिन्दू-मुस्लिम एक हो गये। मंत्रणा हुई। इतिहासकार सरकार और दत्ता लिखते हैं—

"इस बीच नाना साहब, अवध की बेगमें, अवध के अन्य राजे, झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई और आरा के पास जगदीशपुर के कुंवरसिंह ने कानों-कान गदर का मंत्र सेना में फूंकना आरम्भ किया।"

१० मई १८५७ को मेरठ में गदर की चिनगारी लग गई। क्रान्तिकारियों ने दिल्ली के किले में जा कर बहादुरशाह को एक बार फिर मुगल-सम्राट घोषित कर दिया। यह एक अलग बात है कि क्रान्तिकारी असफल रहे। यह भी एक अलग बात है कि अँग्रेजों को भारत में रहने की कुछ अवधि और मिल गई। पर इस गदर से अँग्रेज़ों के पैरों से जमीन निकल गई। वह कांप गये। उनके हृदय में एक डर छा गया। और भावी क्रान्तिकारियों को इसी गदर से प्रेरणा मिली। उनके लिये यह ब्रिटिश सरकार से पहला मोर्चा था। खुदीराम बोस, प्रफुल्लचन्द्र, सावरकर, श्यामजी, कृष्णवर्मा, मदनलाल धींगरा आदि कितने ही क्रान्तिकारियों ने साम्राज्यवाद की जड़ें हिलाने की चेष्टा की।

तिलक ने भी इस गदर का इतिहास अपने लोगों से सुना था। अपने ढंग से उसे समझा था। इस महान प्रयत्न की सफलता और असफलता को आंका था। गदर की गोद में पलकर वह महान राजनीतिज्ञ राष्ट्रीयता की राह में आई हुई रुकावटों को, मोड़ों को खूब पहिचानता था। सैनिकों के इस महान प्रयत्न का क्या फल होता यदि हमारी सेना में केवल भारतीय सैनिक न होते, वरन भारतीय अफसर भी होते। आगे

चल कर कॉंग्रेस के अधिवेशनों में तिलक ने कितनी बार यह प्रस्ताव रक्खे कि सेना में भारतीयों की नियुक्ति अफ़सरों के पद पर भी होनी चाहिये।

तिलक का जन्म रत्नगिरि में साढ़ोबा गोरे के घर में २३ जुलाई सन् १८५६ को हुआ था। लग्न कुण्डली में ज्योतिष के अनुसार कोई अपूर्व योग न था। आज यदि नेहरू ज्योतिष में कोई विश्वास नहीं करते तो आश्चर्य क्या ? हाथ की रेखा के अनुसार तिलक के दो ब्याह लिखे थे, पर तिलक ने एक ब्याह किया। दोषी न तिलक हैं न कुंडली ! दोष बुद्धि का है। अपनी सम्पूर्ण अपूर्णता का है। ज्योतिष विद्या अभी अपूर्णता के अधिक निकट है। अभी यह एक ही मंज़िल ऊपर आ सकी है। अभी तो इसे छः-सात मंज़िल ऊपर चढ़ना है। माना कि तिलक के स्वप्न को पूरा हुए पूरे आठ साल बीत चुके हैं, माना कि भारत ने इन विद्याओं को अभी कसौटी पर नहीं कसा, पर अन्न-वस्त्र की समस्या को सुलझा कर ही राष्ट्र इन विद्याओं की ओर आँख फेरेगा। भूखा पेट पहले अन्न माँगता है, ज्योतिष की एकैडमी नहीं। पहली चीज़, पहले होगी।

तिलक से बड़ी उनकी तीन बहिनें थीं। इन के जन्म के समय इन की सबसे बड़ी बहिन काशीबाई का विवाह भी हो चुका था। स्वभावतः माँ पुत्र का मुँह देखने को पागल थी। उसने वर्षों सूर्य देव की उपासना की। उसी के फल स्वरूप वह बलवन्तराव का जन्म मानती थी।

में तिलक का घर का नाम 'बाल' था यही नाम स्थायी बना रहा। यद्यपि इन का जन्म-नाम इन के प्रपितामह पर केशव रक्खा गया।

तिलक के बाल-चरित्र में बुद्धि और हठ की दो-चार घटनाओं के अतिरिक्त कोई विशेष घटना नहीं मिलती। तिलक तीव्र स्मरण-शक्ति के थे। इन के पिता इनको एक श्लोक याद करने पर एक पाई पुरस्कार देते थे। इस तरह इन्होंने सैकड़ों पाइयाँ एकत्रित कर ली थीं। तिलक को भोजन के अतिरिक्त और कुछ खाने की आदत न थी। वह भोजन के समय घर में या बाहर खा लेते थे।

१८६१ में दशहरे के शुभ दिन तिलक पाठशाला भेजे गये। उस समय इन की अवस्था पाँच वर्ष की थी। सन् १८६४ में आठ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। इस थोड़ी सी अवधि में, इन तीन वर्षों में तिलक ने भिन्न तक गणित, रूपावली, समास चक्र, आधा अमर कोष और ब्रह्मकर्म का बहुत सा भाग कंठस्थ कर लिया था।

सन् १८७२ में उन के पिता का स्वर्गवास हो गया। उस समय तिलक की अवस्था केवल १६ वर्ष की थी। जब यह १० वर्ष के थे तभी माँ का देहान्त हो चुका था। पिता की मृत्यु के महीने भर बाद तिलक ने हाई स्कूल की परीक्षा दी थी।

अपने पिता से तिलक को उनका पूरा अनुभव मिल चुका था। गणित और संस्कृत वह अपनी अवस्था से अधिक

सीख चुके थे। पिता द्वारा उन की नींव मजबूत हो चुकी थी।

माता पिता के निधन के पश्चात् तिलक के पालन-पोषण का भार उन के चाचा गोविंदराव पर पड़ा। गोविंदराव तिलक के पिता से १५ वर्ष छोटे थे। पर यह तिलक से २० वर्ष बड़े थे। गंगाधर के दौरे पर रहने पर गोविंदराव ही घर का सब प्रबन्ध करते थे।

न्यू-स्कूल में प्रवेश होने के कुछ दिन बाद तिलक अपने चाचाजी से अलग रहने लगे। वसीयत के अनुसार रुपयों और जायदाद का विभाजन चचा-भतीजे में पहले ही हो चुका था किंतु फिर भी गोविंदराव अपने भतीजे की घर-गृहस्थी की देख-भाल और आय-व्यय का हिसाब रखते रहे। तिलक के लिये बड़े-बूढ़े के नाम से एक मात्र यह चाचा (काका) ही थे। तिलक ने लोक-मर्य्यादा का यथाशक्ति पालन किया। इसी लोक-मर्य्यादा के हर अंग की पुष्टि श्री राम ने की, जिससे वे मर्य्यादा-पुरुषोत्तम श्री राम हुए। इसी लोक-मर्य्यादा के औरंगज़ेब ने टुकड़े टुकड़े कर दिए, जब उसने अपने पिता को क़ैद कर लिया। तिलक की लोक-मर्य्यादा की भावना को संसार ने कम देखा क्योंकि ससार की आँखें उन के देशभक्ति और त्याग को देखकर ही चौंधिया गईं। तिलक अंत समय तक अपने चाचाजी की हर तरह से सेवा करते रहे। उनके पिता, उन के बड़े-बूढ़े सब कुछ वही थे।

तिलक के पिता की मृत्यु भट्ट के बाड़े में हुई। सन् १८८५-

८६ में तिलक ताम्बे के मकान में रहने लगे। इसके बाद तिलक नारायण पेठ में रहने लगे। इसमें यह १८९१-९२ तक रहे। तदुपरांत तिलक सदाशिव पेठ में विंचूरकर के बाड़े में रहने लगे। यह घर छोटा था। इसमें वह १९०४ तक रहे।

तिलक की अंग्रेज़ी शिक्षा सिटी स्कूल पूना में हुई। यहां उन्होंने दो वर्ष में तीन कक्षाओं को पास किया। पाठशाला के अध्यापक से प्रायः इन की पटती न थी। यह हठ एक बुद्धिमान विद्यार्थी ही कर सकता था। इस विषय में तिलक के जीवनी लेखक कृष्णाजी आबाजी गुरुजी लिखते हैं—"उस (शिक्षक) की ओर से गणित का प्रश्न लिखाये जाने पर ये (तिलक) उसे जबानी हल करने लगते थे·········संत, इस शब्द को बलवंतराव ने एक सा न लिखकर प्रथम स्थान में 'संत', तो दूसरी जगह 'सन्त' और तीसरी जगह 'सन्‍त' इस तरह तीन प्रकार से लिखा, किन्तु अध्यापक ने प्रथम शब्द को ठीक मानकर शेष दो को गलत कर दिया। इस पर गुरु-शिष्य में विवाद उठ खड़ा हुआ और वह मामला यहाँ तक बढ़ा कि अन्त को हैडमास्टर के सामने पेशी हुई, और जब तक उस का निर्णय अपने मनोनुकूल न हो गया तब तक इन्हें चैन न पड़ा। बड़ों से झगड़ा करने के कारण इनकी गणना चतुर किन्तु झगड़ालू अथवा बुद्धिमान होते हुए भी हठी स्वभाव वाले मनुष्यों में होने लगी।"

इसी प्रकार कुछ समय पश्चात एक पुस्तक पर तिलक और

पूना हाई स्कूल के संस्कृत शास्त्री के बीच विवाद उठ खड़ा हुआ और उस में हैडमास्टर की ओर से शास्त्री जी का पक्ष लिया गया। इस पर तिलक ने उस स्कूल को छोड़ दिया और वे बाबा गोखले की कक्षा में पढ़ने लगे। बालपन का यह हठी स्वभाव आगे भी ज्यों का त्यों बना रहा। जो कोरे ज्ञान को ग्रहण करने की चेष्टा करता है, उसमें भक्ति का, श्रद्धा का पुट नहीं देता वह यदि शुष्क या हठी हो जाय तो आश्चर्य क्या? तिलक की भी यही दशा थी। सन् १८६६ में कांग्रेस के अधिवेशन में जब उन्होंने लार्ड सैन्डहर्स्ट के शासन के विरुद्ध एक प्रस्ताव रखने का प्रयत्न किया तो विरोधियों ने एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। आर० सी० दत्त आदि ने विरोध किया—इस प्रान्तीय प्रश्न को वह कांग्रेस में नहीं उठने देंगे। पर बालपन से हठीले तिलक कब मानने वाले थे। वह उद्धरणों द्वारा यह सिद्ध करने लगे कि यह प्रश्न केवल प्रान्तीय कह कर नहीं टाला जा सकता। उधर दत्त ने धमकी दी कि यदि तिलक इस प्रकार अड़ेंगे तो मैं सभापति के आसन को छोड़ दूँगा। यदि बालपन में हैडमास्टर की ओर से शास्त्री का पक्ष लेने पर तिलक स्कूल छोड़ सकते थे तो बड़े होकर सभापति की ओर से विरोधियों का पक्ष लेने पर यदि वह दत्त जैसे प्रभावशाली व्यक्ति से उस समय टक्कर लेने को तैयार हो गये तो आश्चर्य क्या? ज्ञानी केवल एक ही सत्ता को मानता है और वह है विवेक। विवेक द्वारा ही वह जीता जा सकता है अन्यथा नहीं।

अध्ययन के विषय में तिलक स्वतन्त्र-बुद्धि में विश्वास करते थे। वह एक ऐसे बौद्धिक-विकास में विश्वास करते थे जो आकाश की तरह सीमाहीन हो। कबीर के इस सिद्धान्त में उन का विश्वास न था कि गुरु गोविन्द से भी बड़ा है। वह ज्ञान को ही सर्वोपरि मानते थे। कक्षा में प्रथम आने की महत्त्वाकांक्षा उन के चित्त में कभी न थी। व्याकरण और संस्कृत श्लोकों में तिलक की प्रतिभा अद्वितीय थी। अन्य विषयों में वह साधारण थे।

तिलक का विवाह १५ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। उस समय वह पढ़ रहे थे। इनकी पत्नी कोंकण को थी। पत्नी का नैहर का नाम तापी बाई था। ससुराल आने पर उनका नाम सत्यभामा बाई रक्खा गया।

तिलक और उनकी पत्नी दोनों मातृहीन थे। तिलक के विवाह के कुछ दिन पश्चात् ही इनके पिता का देहान्त हो गया। १६ वर्ष के बालक के ऊपर दुख का पहाड़ टूट पड़ा। वह संसार में अनाथ हो गया।

सन् १८७३ में तिलक ने डैक्कन कालिज में प्रवेश किया। इन का जो ढंग हाई स्कूल में था वही कालेज में भी रहा। स्वेच्छा और स्वतंत्रता पूर्वक इन के जो जी में आता था, वही पढ़ते थे। इन्होंने रटने वाले विद्यार्थियों की तरह आधी रात तक नींद कभी खराब नहीं की और न कभी नोट्स लिख कर कापियाँ खराब कीं। वे गिनी चुनी पुस्तकें पढ़ते थे। जब यह

पढ़ने बैठ जाते थे तो इतनी लगन से पढ़ने लगते थे कि कितना भी शोर होता हो वह पढ़ते रहते थे। शेष समय को ये हास्य-विनोद और अपनी अवस्था के विद्यार्थियों से विविध विषयों के वाद-विवाद में लगा देते थे।

कालेज के पहले वर्ष में अपने बिगड़े हुए स्वास्थ्य की ओर ही इन्होंने अधिक ध्यान दिया। प्रातः का समय वे प्रायः अखाड़े में कुश्ती करने या नदी में तैरने मे व्यतीत करते थे। संध्या का समय खेल-कूद या हवाखोरी में और रात का गपशप और हँसी मज़ाक में व्यतीत होता था। इतने पर भी वह क्लास में पूरे समय भी न बैठते थे। तिलक को अपने ऊपर इतना विश्वास था कि वह जानते थे कि परीक्षा में पास होने लायक परिश्रम वह जब चाहेंगे कर लेंगे। इस से अधिक वह कभी चाहते न थे। वह उस खिलाड़ी की तरह थे जो खेल में अनमना रहते हुए भी खेल खत्म होते होते एक दो गोल कर देता था। आत्म विश्वास उन का बल था, आत्म-तुष्टि उनका संबल। वृद्धावस्था में जब तिलक के मित्रों ने पूछा कि वह इतना मष्तिष्क का कार्य कैसे कर लेते है तो उन्होंने इन्हीं दिनों की ओर इंगित करके कहा था कि यदि मनुष्य अपने युवा काल में शरीर को हृष्ट-पुष्ट कर ले तो जो शक्ति इस समय संचित हो जाती है वह बाद तक काम देती है।

तिलक आरम्भ में बहुत दुबले-पतले थे पर व्यायाम द्वारा तथा दो दो घंटे कुश्ती लड़ कर इन्होंने अपना शरीर ठीक कर लिया था। कुश्ती मे इनके साथी दाजी आबाजी खरे थे। कुश्ती करने

से इनकी खुराक भी फैल गई थी जिससे रसोइये भी इन से चिढ़ने लगे थे।

नाव खेने में तिलक को विशेष रुचि थी। दूसरा शौक़ उन्हें तैरने का था जो जीवन-पर्यन्त रहा। इसके विपरीत टहलने से इन्हें अरुचि थी। वह रात में देर से सोते थे और सवेरे देर से उठते थे। रात्रि का जागरण उन्हें प्रिय था। जो लड़के सुकुमार बनते थे उनको तिलक तंग करते थे। रायबहादुर शारंगपाणि तिलक के कालेज के मित्र थे। उनके संस्मरण पर वह लिखते हैं—"भोजन के बाद तिलक को बहुत सी सुपारी खाने की आदत थी...वे खुद भी जागते और साथ साथ दूसरों से भी जागरण कराते थे। वे न एकाकी स्वभाव के थे और न बहुत वाचाल ही। मित्र मंडली के साथ वे खुले दिल से बरतते थे। मुझ सरीखे उन के चुने हुए मित्र लोग रात को भोजन करने के बाद किसी एक कोठरी में एकत्रित होते और गप्पें उड़ाया करते थे... एल-एल० बी० के समय जब हमने एकत्र अभ्यास किया तब व्यवहार मयूख, मिताक्षरा आदि मूल ग्रन्थ हम ने साथ बैठ कर ही पढ़े। ...व्यायामादि विषयों में तिलक सब से आगे रहते थे। वे इस काम में दो दो घन्टे तक लगा देते थे। तैरते हुए आध घन्टे की डुबकी लगा सकते थे।"

कालेज में ऐसे भी विद्यार्थी थे जो शक्ति-वर्धक औषधियों का प्रयोग करते रहते थे। तिलक उनकी शीशियों को बाहर फेंक देते थे और उन्हें उपदेश देते थे कि 'तुम मेरे साथ

अखाड़े चला करो, मैं बिना किसी औषधि के ही तुम्हारी सब बीमारियाँ दूर कर दूँगा।' जो लड़के दरवाज़े बन्द कर अन्दर बैठे रहते थे, उन के दरवाज़े के कांच तोड़ कर तिलक अन्दर घुस आते थे। इसी कारण इनके मित्रों ने इन्हें शैतान की पदवी दे रक्खी थी।

तिलक वंश में सोला पहिन कर भोजन करने की प्रथा प्राचीन थी। इस प्रथा के अनुसार तिलक सोला पहिन कर ही भोजन करते थे पर यदि कोई जान-बूझ कर इस प्रथा का उल्लंघन करता तो वे उससे वाद-विवाद करने लगते थे। यदि विवाद से काम न चल पाता था तो लड़ने को तैयार रहते थे।

दूसरे वर्ष एफ० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण हो जाने पर तिलक बम्बई के एलफ़िन्सटन कालेज में पढ़ने लगे। लेकिन गणित के शिक्षक प्रो० हथार्नवेट थे, और इन प्रो० साहब की शिक्षा पद्धति तिलक को पसंद नहीं आई, अतः वह फिर बम्बई से पूना लौट आये और अपने श्रम से गणित का अभ्यास बढ़ा कर सन् १८७६ में इन्होंने प्रथम श्रेणी में बी० ए० पास किया। सन् १८७७ में गणित का अध्ययन कर तिलक एम० ए० की परीक्षा में बैठे, पर फ़ेल हो गये। तब इन्होंने एल-एल० बी० होने का निश्चय किया। सन् १८७९ में इन्होंने एल-एल० बी० की परीक्षा पास कर ली। आगे चल कर ६ वर्ष बाद जब फर्ग्युसन कालेज की

स्थापना हुई तो उसकी प्रोफ़ेसरी के लिये एम० ए० की परीक्षा फिर से देने का विचार कर तिलक ने चार महिने की छुट्टी ली और प्रो० ठंकरणे के साथ पूना के हीराबाग में एकांत में जाकर रहने लगे। उसी वर्ष तिलक एम० ए० की परीक्षा में फिर बैठे, पर फिर भी फ़ेल हो गये। तब उन्होंने एम० ए० की धुन छोड़ दी। सन् १८७६ में तिलक एल०-एल० बी० पास हुए और २० जनवरी १८८० को उन्हें उपाधि-पत्र मिला। १८७६ में २३ वर्ष की कच्ची उम्र में तिलक ही यह संकल्प कर सकते थे कि वह अपने दरिद्र-देश और संतप्त-समाज की सेवा में ही अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देंगे। इस समय तिलक ने जो मन में ठाना उस संकल्प को आजीवन पूरा किया। २३ वर्ष के युवक में देश-भक्ति की लगन लग चुकी थी, विद्रोह की लौ जगमगा रही थी और उस के प्रकाश में वह स्वतन्त्र भारत की धूमिल-छाया को जब तब देख लेता था। उसने भारत की एक झांकी देख ली थी और उस को बनाने में, सजाने में वह लग गया, सारा जीवन लगा दिया। सूर ने अपने हृदय में कृष्ण की झांकी देखी तो सूर-सागर को जन्म दिया, सवा लाख पद रच डाले; तुलसी ने राम की छवि देखी तो मानस का जन्म हुआ, हिन्दुओं की ढहती हुई श्रद्धा फिर अपने पैरों खड़ी हो गई, और तिलक ने जब स्वतन्त्र भारत का स्वप्न देखा तो तीस करोड़ भारतवासियों को झकझोर दिया, सोते से जगा दिया।

तिलक सही अर्थ में गदर की गोद में पले थे। गदर के बीस वर्ष बाद इस गदर के पुत्र के विचार किसी क्रान्तिकारी से कम न थे। विवेक में निष्ठा रखने वाला शिक्षा प्राप्त करते समय शिक्षा द्वारा भारत का उद्धार करने की युक्ति ढूँढ़ने लगा। वह अपने मित्र आगरकर से कहते हैं:—

"जिस दिन साधारण जनता विचारवान बन जायगी, उस दिन तो हम राजा ही हो जायँगे, अँग्रेज़ और मराठा बराबर के मित्र बन जायँगे और आज की तरह उनमें स्वामी-सेवक का नाता भी न रहेगा।"

आरम्भ से ही वह सामाजिक सुधार की अपेक्षा राजनैतिक सुधार के पक्ष में थे। बिना घर के, बिना स्वराज्य के सुधार कैसा? वह कहते हैं।

"मित्र आगरकर, तुम घर सुधार का ही ढिंढोरा पीटना चाहते हो न? खुशी से पीटो और ज़ोर ज़ोर से पीटो; किंतु यदि मुझ जैसा कोई अज्ञानी तुम्हारे पास आकर कहे कि तुम तो घर सुधारने को कह रहे हैं किन्तु मेरे पास घर ही नहीं है, मैं क्या करूँ' तो तुम को चाहिये पहिले उसे घर दो। ....अजी, घर की आवश्यकता तो है ही, और यह सारे प्रपंच घर ही के लिये तो हो ही रहे हैं। अंग्रेज लोग यहाँ आये और सारे संसार में फैल गये। यह भी घर के लिये घर छोड़े हुए हैं।" और यह सब विचार तिलक के १८७९ में थे, जब वह पढ़ते थे, जब वह २३ वर्ष के थे।

सन् १८५७ का गदर दबा दिया गया था, पर उसकी आग नहीं दब पाई थी। उसके शोले धीरे धीरे दहकते रहे। यदि तिलक एक ओर २० वर्ष का—नहीं नहीं २०० वर्ष का—इतिहास स्मरण रखते थे तो दूसरी ओर अगले ४० वर्षों का ध्यान रखकर सोचते थे। उनके यह शब्द इन्हीं विचारों के द्योतक हैं :—

"किन्तु आगरकर, जितने विस्तृत राजनैतिक ज्ञान की तुम कल्पना कर रहे हो उस की प्राप्ति के लिए हमारे बाद भी दो चार पीढ़ी बीत जायेंगी ·····मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि आज के लिये विचार करते हुए हमें भूत काल के सन् १६३२ से भविष्यत के कम से कम १६३० तक अपनी दृष्टि मर्य्यादा को बढ़ाना पड़ेगा।"

भारत माँ को आर्त्त देखकर युवा तिलक का जी रो पड़ा, हृदय चीत्कार उठा :—

"आज हमारे लाखों दूध देने वाले पशु अधिकाधिक संख्या में विलायत जा रहे हैं। ज़मीन का लगान प्रति तीस वर्षों के बाद बढ़ा दिया जाता है। बालकों को मिलने वाली शिक्षा की कठिनाइयों का अनुभव तुम स्वतः कर रहे हो। भला यह तो बताओ कि सेना के लिए जितना खर्च होता है उसका कौन सा भाग शिक्षा के लिए खर्च किया जाता है ? और शिक्षा किस प्रकार की दी जाती है।"

वह जानते थे कि सन् १८५७ की भूल अब फिर नहीं होनी

है। अब की जो सरकार से टक्कर लेनी है वह वर्षों तक चलेगी। इस बार गदर नहीं होना है, क्रांति नहीं होनी है जो वर्ष दो वर्ष में समाप्त हो जाय। इस बार स्वतंत्रता का संग्राम छेड़ना है, जो वर्षों चलेगा, पीढ़ी दो पीढ़ी चलेगा, जो स्वतंत्रता लेकर ही समाप्त होगा। वह आगरकर से कहते हैं :—

"भला जिनका आचार—धर्म यह बताता है कि गाय के आत्मा नहीं होती, वह हमारे धर्म की बात को क्या जान सकता है? ……इसके लिये उद्योग करना पड़ेगा। और तभी तुमको पता लगेगा कि पद पद पर सरकार से टक्कर लेनी पड़ती है।

आगरकर—मैं अवश्य टक्कर लूंगा ………किन्तु तिलक सरकार की तरह हमें अपने अज्ञान से भी टक्कर लेनी होगी। क्या तुम इसके लिये तैयार हो?

तिलक—वह हृदय का घाव है। उसके लिये मैं मीठा बोलकर या एक दम चुप रह कर केवल आचार के द्वारा ही उसे पूरा कर लूंगा।"

सन् १८७६ के विद्रोह का भी तिलक के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। जिस वर्ष तिलक ने बी० ए० पास किया उस समय महाराष्ट्र के कुछ लोगों ने ब्रिटिश साम्राज्य को उलटने की ठानी। इन लोगों का नेतृत्व वसुदेव बलवंत फड़के ने किया जो एक सरकारी दफ्तर में क्लर्क था। इन लोगों के पास

जोश अधिक था और साधन कम। यह लोग जनता तक अपना संदेश न पहुंचा सके। वसुदेव बलवंत ने यह नहीं सोचा कि मराठा जाति अब अवनति की ओर है, शिवाजी के समय के वीर अब नहीं हैं। वह अपने प्रयत्न में असफल रहा। इस विद्रोह से पूना के ब्राह्मणों को सरकार संदेह से देखने लगी। १८७६ के विद्रोह के समय तिलक आयु के हो गये थे। वह सोचने लगे कि वसुदेव बलवंत का प्रयास कितना अज्ञान पूर्ण, असामयिक और अपरिपक्व था। और तब से वह खून बहाने वाली क्रांति के विरोधी हो गये। उन्होंने देखा कि यदि भारतवासियों को अंग्रेज़ों से लड़ना है तो वह लेखनी और वाणी से लड़ेंगे न कि तलवार और बन्दूक से। वह जानते थे कि अंग्रेज़ों के शासन के पीछे उनकी बढ़ी-चढ़ी शिक्षा है उनका संगठन है और इन्हीं शस्त्रों के द्वारा भारतवासी अंग्रेज़ों के हाथ से सत्ता छीन पायेंगे।

सन् १८७७-७८ के अकाल में ५० लाख व्यक्ति भूखे मर गये। इसका तिलक के मस्तिष्क पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस समय से तिलक गरीबों की चिन्ता करने लगे।

आज गदर का पुत्र गदर नहीं चाहता था, क्रान्ति नहीं चाहता था। वह भारत के गदर में पला था, उसने फ्रॉस की क्रान्ति को पढ़ा था। उनकी त्रुटियों को समझा था। उसे स्वतंत्रता का संग्राम छेड़ना था। विजय पानी थी। स्वराज्य लेना था। इस स्वतंत्रता के पुजारी के हाथ राजनीति

हिन्दुस्तानी एकेडमी उ० प्र० राष्ट्र पुस्तकालय ६३५४ इलाहाबाद

का उत्कर्ष था।

ढहता हुआ वातावरण

पेशवाई सूर्य अस्त हो चुका था। सम्पूर्ण महाराष्ट्र निस्तेज हो कर पड़ा था। आज शिवाजी का महाराष्ट्र निष्प्राण था। सन् १८६१ में फूलगांव वाला बाजीराव पेशवा का महल साढ़े सात हजार रुपये में नीलाम कर दिया गया। शनिवार बाड़े में नई कचहरियाँ कायम हुईं और बुधवार बाड़े में बैठ कर लोग अखबारों में उत्सुकता पूर्वक विलायत के समाचार पढ़ने लगे।

ब्राह्मण जागीरदार, सरदार और इनामदारों में आलस्य बढ़ गया। साथ साथ उनमें अज्ञान और शौकीनी बढ़ रही थी। मराठों में पतन के यह लक्षण बढ़ते गये।

सितारे की गद्दी पेशवाई के बाद ३० वर्ष तक कायम रही। किन्तु इन थोड़े से ही वर्षों में नाना प्रकार की गड़बड़ी होकर अन्त में सन् १८४८ में यह राज्य हड़प लिया गया। ग्वालियर और इन्दौर के राज्यों का भी जीवन समाप्त हो रहा था।

पेशवाई के बाद अँग्रज़ों ने महाराष्ट्र में नये प्रकार की शिक्षा

देना आरंभ किया। सन् १८३५ से मैकोले की प्रसिद्ध मिनट द्वारा भारत में पाश्चात्य प्रणाली पर शिक्षा आरंभ हो गई थी। और इस शिक्षा को जन्म देने वाले मैकोले का दावा था कि योरप के पुस्तकालय की अलमारी का एक भाग भारत और अरब के समस्त प्राकृत साहित्य के बराबर है। कितना कुंठित विवेक था! कितने कुत्सित और घृणित विचार थे!! इस साहित्यकार का कितना असाहित्यक और अनर्थकारी दृष्टिकोण था!!! इस नई शिक्षा द्वारा सरकार का कारोबार चलाने के लिये क्लर्कों की उत्पत्ति हुई। पाश्चात्य संस्कृति से भारतीयों का प्रेम बढ़ गया। वे अपनी संस्कृति को भूल कर परावलंबी होने लगे।

तिलक के बी० ए० होने से २० वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १८५६ में बम्बई यूनिवर्सिटी का कानून पास हो चुका था। सन् १८६२ में वामन आबाजी मोड़क ही अकेले बी० ए० हुए थे। तिलक के पास होने से पहले १७९ व्यक्ति बी० ए० पास हो चुके थे।

सन् १८६६ तक आवागमन के साधन बहुत थोड़े थे। विलायत की डाक एक महीने में पहुँचती थी। सन् १८६५ में पूना शहर और छावनी में केवल एक ही डाक घर था। और पूरे शहर में जो एक पत्र-पेटिका थी वह बुधवार वाड़े में थी।

जिस समय तिलक कालेज की शिक्षा समाप्त करके लौटे उस समय महाराष्ट्र में भयंकर अकाल पड़ रहा था। अन्न रुपये का पाँच सेर भी न मिलता था। इस अकाल के समय लोग शिवाजी और पेशवा के समय को याद करने लगे। मराठाशाही

को नष्ट हुए अभी केवल ५० ही वर्ष बीते थे अतएव उसकी याद इतनी जल्द कैसे भुलाई जा सकती थी।

सरकार जहाँ कहीं देश भक्ति के बीज बिखरे हुए पाती थी वहाँ राजद्रोह का मठा डालने की चेष्टा करती थी। रानडे भी सरकार की आँखों से न बच सके। जहाँ एक ओर सरकार ने तैलंग एवं भांडारकर को विश्वविद्यालय का उप-कुलपति बना दिया, वहाँ दूसरी ओर रानडे को कभी इस सम्मान का भागी न बनने दिया—कारण स्पष्ट था, सरकार का हृदय उन की ओर से शुद्ध न था। इसी प्रकार स्व० तैलंग के पश्चात् सरकार ने इन्हें हाईकोर्ट में न्यायाध्यक्ष की जगह तो दी, पर वह केवल विवशता के कारण ही।

वह समय ही और था। हाईकोर्ट के जज पर से भी सरकार संदेह की दृष्टि न हटा सकी। सन १८७६ में वासुदेव बलवंत के विद्रोह की धूम मची थी। १५ मई के दिन जब न्यायाध्यक्ष रानडे पूना में ही थे, किसी अन्य रानडे नामक व्यक्ति ने पूना के बुधवार बाड़े और विश्राम बाग महल में आग लगा दी। बस इसी एक कारण से कई महीनों तक न्यायाध्यक्ष रानडे की डाक सरकारी आज्ञा से खोलकर पढ़ी जाने लगी। इसे कहते हैं तानाशाही।

सरकारी दूतों को जब रानडे के पत्रों में कुछ न मिला तो पुलिस द्वारा दंगे, फसाद, लूटमार और षड्यंत्र के नाना प्रकार के झूठे पत्र उनके नाम भिजवाने लगे। यह थी ब्रिटिश

सरकार की नीति, यह था साम्राज्यशाही का न्याय! इस न्याय के काले हाथ न्यायाधीश के घर में भी पहुँच गये, इस निकम्मे न्याय ने अपने संरक्षक न्यायाधीश का ही गला घोंटना चाहा। भला ऐसा न्याय कितने दिन चल सकता था? जब न्याय और पुलिस मिल जाते हैं तो पुलिस के हाथ में न्याय चला जाता है। पुलिस के हाथ में आते ही न्याय का दम घुटने लगता है। न्याय के मिटते ही जंगल का राज्य आरम्भ हो जाता है—शेर चीतों का राज्य, हिंसकों का राज्य, पुलिस का राज्य।

तिलक और रानडे के स्वभाव में बड़ा अन्तर था किन्तु फिर भी रानडे से तिलक को बहुत कुछ स्फूर्ति लाभ हुआ। वे जज के अतिरिक्त एक इतिहासकार, अर्थ-शास्त्री और उत्साही समाज सुधारक थे। रानडे के शिष्य गोखले ने उनके बारे में कहा था—

"लगभग तीस वर्ष तक वह हमारे श्रेष्ठतम विचारों और इच्छाओं के प्रतिनिधि रहे।"

क्या रानडे की तरह तिलक भी समाज सुधारक थे? समाज के जलते हुए प्रश्नों पर उनके क्या विचार थे? उत्तर हाँ में भी है और ना में भी। तिलक विदेश यात्रा के पक्ष में थे, पर शाकाहार पर ज़ोर देते थे। वह बाल-विधवा विवाह के पक्ष में थे, पर इन विवाहों को वैदिक रीति से करने पर ज़ोर देते थे। वह स्त्री-शिक्षा के पक्ष में थे, पर वह लाभदायक

हो और आभूषण के रूप में हो। वह सब के साथ बैठकर खान-पान के पक्ष में थे, पर आवश्यकता पड़ने पर। वह एक ही जाति की उपजातियों के आपस में विवाह के पक्ष में थे जब तक कि सभी जातियों में आपस में विवाह करने का बड़ा प्रश्न हल न हो। वह किसी को अछूत कहने के विरुद्ध थे, पर इस दशा में द्रुतवत सुधारों के वे विरुद्ध थे। वह इस नीति को मानते थे कि प्रत्येक जाति और धर्म के लिए द्वार खोल दो। मद्यपान और कामवासना के वे शत्रु थे। सुधार वह चाहते थे पर आँख मींच कर पाश्चात्य प्रणाली पर सुधार का अनुकरण करने के वे विरुद्ध थे। बुद्ध, कबीर और तुकाराम उनके लिए आदर्श समाज सुधारक थे।

सामाजिक प्रश्नों पर इन विचारों को रखते हुए भी, तिलक समाज सुधार की ओर क्यों नहीं बढ़े? इसका उत्तर अरविंद घोष के इन शब्दों में मिलता है। अरविंद घोष ने तिलक की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि उनका विचार था कि:—

"हमें पहले स्वाधीनता लेनी चाहिए, राष्ट्र का शासन हमारे हाथ में आना चाहिए। उसके पश्चात् हम देख लेंगे कि इस सत्ता को हम सामाजिक सुधार में कैसे लगावें। इस बीच में हमें शान्ति पूर्वक बिना लड़े-झगड़े आगे बढ़ना चाहिए और उतनी ही दूर तक बढ़ना चाहिए जितनी कि आवश्यकता है या जितनी कि जनता आगे

बढ़ सकती है। यह मत गलत हो या ठीक, पर तिलक जैसे कि वह हैं, और देश जैसा कि वह है, वह और कोई दूसरा मार्ग ले ही न सकते थे"...। १ अगस्त १९५५ को रेडियो पर बोलते हुए डाक्टर डी० के० कर्वे ने इसी बात को दूसरे ढंग से कहा था। उन्होंने कहा:—

"साधारणतः उस समय की जनता सामाजिक सुधार नहीं चाहती थी और तिलक यह नहीं चाहते थे कि साधारण जनता पर सुधार ठूंसा जाय। वह जनता को प्रसन्न रखना चाहते थे जिससे कि वह उसे अपने साथ रख सकें। तिलक ने जान बूझ कर इस ओर से आँखें फेर लीं। वह सामाजिक सुधार को कोई महत्त्व नहीं देना चाहते थे।"

('मराठा' १२—८—५५)

न्यू इंग्लिश स्कूल द्वारा राष्ट्रीय बीज बिखेरना

तिलक आरंभ से ही इस विचार के थे कि सुशिक्षित लोग समाज के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हों। वह शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय बीज बिखेरना चाहते थे। वह देश के

पौधों की, फूल आने के पहले, पुरानी मिट्टी बदल कर नई खाद डालना चाहते थे, जिससे यह फूल पूरी तरह से प्रस्फुटित हो सकें।

विष्णुशास्त्री चिपलूनकर, जो स्कूल स्थापित करने में तिलक के आदरणीय सहायक थे, उन का मत यह था:—

"हमारे देश के विद्यार्थी इस समय केवल सरकारी नौकरी के लोभ से ही विद्या पढ़ रहे हैं। इन में विद्या-विषयक विषयन तो क्या, साधारण अभिरुचि भी नहीं होती······यदि शिक्षक विद्यार्थी के चित्त पर विद्या की सच्ची महत्ता अंकित कर दें या उस के अभ्यास से उत्पन्न होने वाले अनिर्वचनीय सुख की अभिरुचि उत्पन्न कर उसे उत्साहित करे तो यही शिक्षा निरी पोच सिद्ध न होकर फौलादी तलवार की तरह सख्त एवं चमकदार बन सकती है। और तभी उसके द्वारा उस राक्षस का निर्दलन किया जा सकता है जिसने कि देश में सदियों से डेरा डालकर उसे निर्वीर्य बना दिया है।" (जनवरी १८७२ के 'शालापत्रक' मासिक पत्र से)

ऊपर के यह विचार जो विष्णु शास्त्री के थे, वही तिलक के थे। शास्त्री जी का विचार सरकारी नौकरी छोड़ कर शीघ्र ही पूना में एक स्वतन्त्र पाठशाला खोलने का था। पर इसके लिये साथी चाहिये थे, सहयोग चाहिये था। फिर पूना में शास्त्री जी के आने के पहले दो प्राइवेट अंग्रेजी पाठशाला चल रही थीं।

शास्त्री जी को साथी ढूंढने न पड़े। वे स्वयं उनके पास आ गये। तिलक तथा आगरकर आदि ने उन दिनों विद्यार्थी दशा में ही अपने लिये भविष्य का कार्य क्रम सोच लिया था। अपनी कारावास कहानी में आगरकर लिखते हैं:—

"जब मैं एम० ए० का और तिलक एल-एल० बी० का अध्ययन करने के लिये कालेज में रहते थे, तभी हमने सरकारी नौकरी न करते हुए देश-सेवा में ही अपना जीवन लगा देने का जिस दिन निश्चय किया था उस दिन से हम में जो कुछ भी बातचीत हुई थी उस की पुनरावृत्ति जेल में बारम्बार होती रहती थी।"

शास्त्री जी तिलक से अवस्था में ६ वर्ष बड़े थे। तिलक के बी० ए० होने से दो वर्ष पूर्व शास्त्री जी की 'निबन्धमाला' आरम्भ हो चुकी थी। शास्त्री जी के नौकरी छोड़कर पूना आने से पहिले ही तिलक और आगरकर दोनों अपने जीवन को सार्वजनिक कार्यों में लगाने का निश्चय कर चुके थे। अतः शास्त्री जी की ओर से नई पाठशाला खोले जाने का संवाद पाते ही ये दोनों मित्र उनसे जाकर मिले, और यह वचन दे आये कि आपकी ओर से पाठशाला खोली जाने पर हम हर प्रकार से आपका साथ देंगे। सितम्बर सन् १८७९ की रात थी जब कि नारायण पेठ में शास्त्री जी के घर में तीन युवक जीवन-दान पर विचार विनिमय कर रहे थे। हमारे समाजवादी नेता जयप्रकाशनारायण जी ने जिस 'जीवन-दान' की पुकार

लगाई है, उसकी कल्पना तिलक कर चुके थे, यद्यपि उस को वह यह संज्ञा नहीं दे पाये थे।

इस समय तिलक और आगरकर के हृदय में देश के लिये बराबर की आग जल रही थी। आगरकर गरीब घर के थे, बहुत ही निर्धन परिवार से आये थे। उन्होंने अपनी माँ को लिखा:—

"प्यारी माँ, तुम उस दिन की प्रतीक्षा कर रही हो जब मैं एम० ए० पास कर के तुम्हें निर्धनता से उबार लूँगा। पर मैंने सुख-सम्पति की ओर अपनी पीठ कर ली है और यह निश्चय किया है कि मैं अपना सम्पूर्ण जीवन देश की सेवा में लगाऊँ।"

शास्त्री जी की यह नई पाठशाला बुद्धवार पेठ के मोरोबा दादा फड़नवीस के अगले भाग में स्थापित हुई। इस पाठशाला का नाम 'न्यू इंगिलश स्कूल' रक्खा गया। इस में अंग्रेज़ी हाई स्कूल की सातवीं कक्षा तक ही रक्खी गयी थी। तीन ही महीने में पाठशाला में विद्यार्थियों की संख्या ५०० हो गई थी। उसी वर्ष स्कूल बन्द होते समय शास्त्री जी ने लिखित भाषण देते हुए कहा था :—

"हमारे स्कूल में किसी को बेंत या छड़ी नाम को भी न दिखाई देगी। और न किसी विद्यार्थी की ओर से स्कूल का नियम भंग होने पर उसे क्षमा ही किया जायेगा।"

शिक्षा-समिति के सभापति डा० हन्टर ने न्यू इंगलिश स्कूल

ने तिलक ने जो नई स्फूर्ति दी थी उसको देखते हुए सन् १८८८ में कहा—"पूरे भारतवर्ष में अभी मैंने कोई ऐसा स्कूल नहीं देखा जिस की तुलना इस स्कूल से की जा सके। यह स्कूल..... केवल इस देश के सरकारी स्कूलों से ही तुलना करने में सफल न होगा वरन विदेशी स्कूलों की तुलना में ऊँचा रहेगा।"

सन् १८८१ में आर्यभूषण प्रेस की स्थापना हुई तथा 'केसरी और मराठा' नामक दो साप्ताहिक पत्र आरंभ हुए। इससे शास्त्री जी का कुछ समय उधर भी लगने लगा।

१७ मार्च सन् १८८२ को शास्त्री जी का अचानक ही स्वर्गवास हो गया। इससे तिलक को धक्का लगा।

तिलक की अध्यापन विधि शास्त्री जी से बहुत भिन्न थी। वह अपनी कक्षा में बाहर की बातें विद्यार्थियों से नहीं करते थे। मुख्य विषय को पढ़ाने में ही लगे रहते थे। तिलक विद्यार्थियों से विनोद भी नहीं करते थे। गणित जैसे कठिन विषय को पढ़ाते समय भी तिलक काले तख्ते की ओर न जाते थे। वह बड़े बड़े प्रश्नों को मौखिक ही हल कर लेते थे। आगरकर की शिक्षा पद्धति इस के ठीक विपरीत थी। उसमें तिलक का रूखापन न था। वे अपने विषय को हँसते खेलते पढ़ा देते थे।

न्यू इंगलिश स्कूल की स्थापना के पाँच वर्ष पश्चात डैक्कन एज्यूकेशन सोसायटी का फर्ग्युसन कालेज स्थापित हुआ। इसके स्थापित होते ही कालेज की ख्याति बढ़ गई और

स्कूल का नाम पीछे रह गया। इस लिए इस स्कूल का स्वतंत्र इतिहास आरंभ के पाँच वर्षों में ही मिलता है, उसके बाद नहीं।

'केसरी' और 'मराठा' का जन्म कैसे हुआ? इनके जन्म का इतिहास भी न्यू इंगलिश स्कूल के इतिहास से मिलता हुआ था। वामनराव आपटे के घर सब साथियों का श्राद्ध-तिथि का भोजन था। तिलक, आगरकर आदि सभी आये थे। उसी रात को बहुत समय तक वाद-विवाद होने के पश्चात 'केसरी' और 'मराठा' नामक पत्र जनवरी १८८१ से निकालने का निश्चय हुआ।

नामजोशी जिस प्रेस में अपना 'किरण' नामक पत्र छपवाते थे वह केशव बल्लाल साठे के यहाँ गिरवी पड़ा था। मित्रों ने इनसे बातचीत की। बात पक्की हुई। थोड़ा थोड़ा रुपया देने की शर्त मान ली गई। साठे ने मित्र-मंडली के हस्ताक्षर ले लिए। फिर क्या था, साथियों का जोश देखने लायक था। उन्होंने एक रात में ही प्रेस का सब सामान मोरोबादादा के बाड़े में पहुँचा दिया। इसी घटना को लक्ष्य करके लोकमान्य तिलक कभी कभी मौज में आकर अभिमान पूर्वक कहा करते थे:—"मैंने स्वयं अपने इन कंधों पर आर्यभूषण प्रेस के टाइप की पेटियाँ उठा उठा कर ढोई हैं।"

इस प्रकार मोराबादादा के बाड़े में प्रेस और स्कूल दोनों आगये। इसका नाम 'आर्य भूषण प्रेस' रक्खा गया। केसरी

का उद्देश्यपत्र प्रकाशित हुआ जिस पर चिपलूनकर, तिलक आगरकर, आपटे, नामजोशी तथा डा० गर्दे इन छः व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे।

प्रथम वर्ष के केसरी में शास्त्री, तिलक और आगरकर तीनों के लेख प्रकाशित हुए हैं। तिलक धर्मशास्त्र राजनीति और कानून संबन्धी लेख लिखते थे। आगरकर के विषय थे —इतिहास, अर्थशास्त्र और सामाजिक सुधार।

केसरी का प्रचार अधिक था, पर उसका मूल्य कम होने से आय-व्यय बराबर हो जाता था।

मराठा पत्र का प्रथम अंक २ जनवरी १८८१ को प्रकाशित हुआ। मराठा के उद्देश्य पत्र पर चिपलूनकर, गर्दे, आपटे, तिलक, आगरकर और नामजोशी के हस्ताक्षर थे।

डैक्कन स्टार नामजोशी का अंग्रेज़ी का निजी पत्र था। अतएव नामजोशी के आ जाने से मराठा को एक अनुभवी संपादक का साथ मिल गया।

मराठा ने केसरी से दो दिन पूर्व जन्म धारण किया था। मराठा अंग्रेज़ी में था और केसरी मराठी में। मराठा का दृष्टिकोण अधिक व्यापक और विशाल था कारण मराठा के संपादक के सामने सम्पूर्ण भारतवर्ष एवं इग्लैंड तक का पाठक समाज था। इसलिए मराठा के लेख केसरी से अधिकप्रौढ़, जोशीले एवं राष्ट्रीयता लिए हुए विद्वत्तापूर्ण थे। पर महाराष्ट्रियों को केसरी में तिलक के लेख जितने पसंद थे, उतने मराठा के

नहीं। मराठा संपादक ने अपने आरंभिक लेख में लिखा था :—

"पत्र का नाम मराठा होने पर भी इसकी दृष्टि संकुचित और कार्य क्षेत्र केवल प्रान्तीय स्वरूप का न होगा।"

पहला राजनैतिक क़ैदी

महाराष्ट्र में शान्तिपूर्ण राजनैतिक आन्दोलन में जेल जाने का सम्मान और वह भी इतनी कम आयु में पहले पहल तिलक को ही प्राप्त हुआ था। सन् १८८२ में उन्हें ४ महीने की सादी कैद की सज़ा मिली।

न्यू इंग्लिश स्कूल की समिति की ओर से यह पत्र प्रकाशित किये जाने पर जनता ने समझ लिया था कि यह लोग कोरे अध्यापक नहीं हैं, वरन् देश और समाज पर अभिमान रखने वाले उद्योग शील आन्दोलन कर्त्ता भी होंगे।

पहले वर्ष से ही केसरी में कोल्हापुर के राज्य कारोबार से संबंध रखने वाले लेख निकलने लगे और अगले वर्ष इन्हीं लेखों पर अभियोग चल पड़ा। किंतु केसरी ने सबसे पहले इसी राज्य का प्रश्न हाथ में न लिया था, बल्कि वह इस से पहले बड़ौदा राज्य की चर्चा भी कर चुका था। पर कोल्हापुर की दशा बड़ौदा से भी अधिक बुरी हो रही थी। वहाँ के

महाराज शिवाजीराव के पागल हो जाने की शंका ने लोगों को बहुत दुखी बना दिया था। महाराज को पागल बनाने में वहाँ के दीवान पर लोगों की शंका थी।

केसरी और मराठा के ध्येय को देख कर, उनके साहस को देखकर कोल्हापुर राज्य-पक्षपाती लोगों में उत्तेजना बढ़ना स्वाभाविक था। इसी कारण उन्होंने सम्पादकों के पास वहाँ की सब बातें खुलासा तौर पर लिखना शुरू किया।

११ अक्टूबर १८८१ के केसरी में तिलक ने यह शब्द लिखे:—"कोल्हापुर के छत्रपति महाराज की इस समय यह दशा हो रही है कि जिसे सुनकर पाषाण-हृदय भी द्रवित हो उठेगा। क्या महाराज का प्राणान्त हो कर उनकी लाश हाथ में आने पर हमारे लाट साहब की निद्रा भंग होगी? यदि किसी भी कारण से महाराज की जान को जोखम पहुँचो तो उसका सारा कलंक महारानी विक्टोरिया और उसके प्रतिनिधि वायसराय के सिर लगे बिना न रहेगा।"

यह शब्द सन् १८८१ में तिलक ने कहे थे जबकि हमारी कांग्रेस का जन्म इसके ४ वर्ष बाद सन् १८८५ में हुआ। इस से स्पष्ट है कि कांग्रेस की उत्पत्ति के पहले तिलक के हृदय में इन राष्ट्रीय विचारों की उत्पत्ति हो चुकी थी।

तिलक लोकमत को इस ओर खींचना चाहते थे। अतएव २४ नवम्बर १८८१ को वृद्ध पेंशनर गोपालराव हरी देशमुख की अध्यक्षता में एक सभा हुई। मुख्य भाषण कोल्हापुर के नेता नाना

साहब भिड़े वकील का हुआ। २६ नवम्बर १८८१ के केसरी ने इस सभा का वर्णन तथा अपनी आलोचना प्रकाशित की।

६ दिसम्बर १८८१ के केसरी में महाराज को आंशिक रूप में बुद्धि भ्रष्ट होना स्वीकार किया था। इस अङ्क में केसरी लिखता है:—

"कोल्हापुर के संबंध में जो कागज़ पत्र हमारे देखने में आये हैं उन पर से रावबहादुर माधवराव बर्वे के राक्षसी अन्तःकरण का हमें पूरा पूरा पता लग गया है। आज ही उनकी वे काली करतूतें प्रकाश में नहीं लाई जा सकतीं, अतएव हम विवश हैं। किन्तु वे इतनी घोर एवं घृणित हैं कि जिन्हें सुनकर सहृदय पुरुष का अन्तःकरण फट जायगा यही नहीं वरन आकाश-पाताल एक हो जायेंगे।

दूसरी ओर एँग्लो इंडियन पत्र इतने ही ज़ोर से दूसरी बात कहते थे कि पूना के लोग शोर मचा कर यों ही रुपया एकत्रित कर रहें हैं। दीवान बर्वे बिल्कुल निस्वार्थी और निर्दोष हैं।

नाना भिड़े के लाये हुए कृत्रिम पत्र इस से पहले ही 'ज्ञान प्रकाश' में प्रकाशित हो गये थे और बर्वे भी कोल्हापुर छोड़ कर पूना चले आये। केसरी ने १७ जनवरी सन् १८८२ के अंक में 'ज्ञान प्रकाश' से वह पत्र उद्धृत करके प्रकाशित कर दिया। बर्वे इस अवसर की तलाश में ही था। उसने सरकार से अभियोग चलाने की आज्ञा मांगी। सरकार ने आज्ञा दे दी। मि० बेन के सामने ८ फरवरी सन् १८८२ को बुधवार के दिन

मामले की जांच हुई । वादी की ओर से क्लीवलैंड तथ लिटल सोलिसिटर थे। इधर प्रतिवादी के बैरिस्टर सः फीरोज़शाह मेहता थे।

तिलक और आगरकर पर ही मामला चलाया जाना कानून से उचित था। पत्र आदि छापने या न छापने का निर्णय मुख्यतः तिलक की सलाह से हुआ था।

८ मार्च सन् १८८२ को मि० वेब के सामने तिलक ने कहा—"नाना भिड़े ने वे पत्र मुझे दिखाकर यह बतलाया कि वे उन्हें वामनराव रानडे से प्राप्त हुए हैं। इस से अधिक न तो उन्होंने कुछ और कहा और न मैंने ही कुछ पूछा। वामनराव रानडे से मेरा मामूली परिचय है। मैंने उनसे जब इन पत्रों के प्राप्त होने के विषय में पूछ-ताछ की तो उन्होंने बतलाया कि वे उन्हें राज्य के प्राइवेट विभाग से मिले हैं। इसके बाद जब मैंने उन से पत्र देने वाले का नाम पूछा तो उन्होंने यह कहा कि यह एक विश्वस्त मनुष्य ने लाकर दिये हैं और उस का नाम समय आने पर प्रकट किया जायगा। किन्तु वह समय आज तक नहीं आया। मुझे आज तक उस आदमी का नाम नहीं मालूम हुआ।"

यह तो हुआ तिलक का कथन। अब नाना भिड़े का प्रलाप सुनिये। उन्होंने मि० वेब के सामने कहा—"वे पत्र मुझे 'ज्ञान प्रकाश' के स्वामी वामन गोविंद रानडे ने पूना में दिये। उन्हें लेकर मैंने वहाँ के बड़े अधिकारियों को दिखाया।......

मै तिलक के घर अनेक बार गया। जब तिलक ने पूछा कि यह पत्र मैंने कहाँ से प्राप्त किए तो मैंने कहा कि एक भले आदमी के पास से। किन्तु इसके बाद तिलक ने मुझसे यह नहीं पूछा कि वामनराव के पास वे कहाँ से आये।"

अंतिम वाक्य से स्पष्ट होगा कि कचहरियों में घटनाएँ किस तरह तोड़ी-मरोड़ी जाती हैं, सत्य का कितना विकृत रूप कर दिया जाता है।

१३ जुलाई १८८२ को वामनराव रानडे पर अभियोग चलने पर शेगुण सीकर ने गवाही देते हुए कहा—

"वह कोल्हापुर का रहने वाला न था, पर कोल्हापुर आया जाया करता था। २७ नवम्बर १८८१ को वह अपने किसी कार्य से अपने मित्र और संबंधी रामाभाऊ ऐनापुरकर के घर गया। उस दिन वह अपने घर पर न था। मैंने उसकी बहन से पत्र लिखने के लिये उस का लिखने का बस्ता मंगाया। उसी बस्ते में कोरा कागज़ ढूँढ़ते हुए १०–१५ पत्रों का एक बंडल उसके हाथ लगा। खोलने पर पता लगा कि उसमें बर्वे के अनेक पत्र हैं, जिनमें उसके हस्ताक्षर भी हैं। उनमें कोल्हापुर के महाराज से संबन्धित रखने वाली बातें थीं अतएव उन्हें वह चुपचाप जेब में रखकर वहाँ से चल दिया। इसके बाद दूसरे दिन जब उसकी भेंट वामनराव रानडे से हुई तो उस ने कुछ पत्र लाकर उन्हें दिये।......ये पत्र यथार्थ में खासगी विभाग से प्राप्त हुए थे क्योंकि रामभाऊ ऐनापुरकर

बर्वे के गुप्त विभाग का विश्वास पात्र नौकर था। बर्वे के गुप्तचर या विश्वस्त नौकर के नाते पागल महाराज के ऊपर ऐनापुरकर ही दिन रात नियुक्त रहता था।"

ऊपर की गवाही से सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। तिलक इन पत्रों को पहले परख चुके थे। वह कानून के कमज़ोर खिलाड़ी न थे। उन्होंने यह पत्र अपने मित्र गोपालराव फाटक सब जज और स्वयं रायबहादुर रानडे को भी दिखा दिये थे। इन लोगों ने भी इन पत्रों की सत्यता का समर्थन किया था। अभियोग चलने पर रानडे से कहा गया कि वे अपनी जानकारी की बातें शपथपूर्वक प्रकट करें। किन्तु रानडे ने ऐसा करना स्वीकार न किया। क्यों नहीं ? यह भारतवर्ष है। यहाँ सच्चे गवाह आगे आने में डरते हैं और झूठे गवाह पीछे हटने को तैयार नहीं होते। मेरे एक जज मित्र कहा करते हैं कि भारतवर्ष में सत्य और सत्य के बीच में अन्तर निकालने में बहुत समय नष्ट हो जाता है। वास्तविक घटना क्या थी—यह लोग बताते नहीं हैं, ढूँढ़नी पड़ती है। निर्णय करने में जितना समय मिलना चाहिये उतना मिल नहीं पाता। अब देश के कर्णधार कानून को संशोधित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

६ जुलाई १८८२ को मिड़े के मामले का निर्णय सुना दिया गया। उसी रात बम्बई में तिलक-आगरकर के निवास स्थान पर सलाह के लिये सभी साथी बैठे। तिलक और आगरकर

क्षमा मांगने को तैयार न थे।

तिलक के पास वे पत्र थे, अतएव उन्हें कोई चिन्ता न थी। वह पत्र मिथ्या सिद्ध होने पर लोग उन्हें वापस मांग रहे थे। कोल्हापुर के रिटायर्ड जज बलवन्तराव जोशी जहाँ एक ओर तिलक के मित्र थे तो दूसरी ओर सरदार महाशय के भी थे। रायबहादुर जोशी ने इन पत्रों को वापस कर देने पर ज़ोर डाला। तिलक पत्र देने को तैयार न थे। रात भर विवाद होने पर तिलक उन पत्रों को पेश न करने पर सहमत हुए। जोशी जी के सामने तिलक ने वे पत्र अपने हाथों जला दिये। जोशी जी के और ज़ोर डालने पर बर्वे से क्षमा मांगने की सलाह पर अन्त में तिलक सहमत हो गये। दूसरे दिन ७ जुलाई १८८२ को तिलक और आगरकर ने क्षमा याचना के पत्र पर हस्ताक्षर किए और वह बर्वे के पास भेज दिया गया। अभियोग के आरंभ होते ही तिलक की मांगी हुई क्षमा व्यर्थ सिद्ध हुई। बर्वे के बैरिस्टर ने आरंभ में ही उस क्षमा का उल्लेख करते हुए कहा—'सारा मामला सिद्ध होते देख कर आरोपी को यह क्षमा याचना की बात सूझी है।'

१७ जुलाई १८८२ को जूरी ने निर्णय सुना दिया। तिलक आगरकर और बरवले प्रत्येक को चार चार महीने की सादी कैद और भिड़े तथा रानडे को दो वर्ष की सादी कैद और एक हज़ार रुपये जुर्माना की सज़ा दी गई। दूसरे दिन १८ जुलाई १८८२ को केसरी ने इस मुकदमे पर एक वाक्य

द्वारा जो आलोचना की थी उस में सब कुछ निहित था। 'इस मामले में जो निर्णय हुआ उसका स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकता।"

इस वाक्य में क्रोध फुफकार रहा था, पीड़ा व्यथित हो रही थी और न्याय अपना जी मसोस रहा था।

तिलक और आगरकर निर्णय सुना देने के बाद उसी दिन संध्या को डोंगरी जेल भेज दिये गये। यद्यपि सज़ा चार महीने की थी किंतु उनके अच्छे व्यवहार के कारण १९ दिन की कमी करके १०१ दिन में यह छोड़ दिये गये। जेल में दोनों को कई दिन भूखों मरना पड़ा। १०१ दिन में तिलक का २४ पौंड और आगरकर का १६ पौंड शरीर कम हो गया। पहले दिन जो भोजन इनके सामने रक्खा गया उसके दो तीन कौर खाते ही कै हो गई। आगरकर से आप बीती सुनिए। वह अपनी पुस्तक में लिखते हैं:—

"जेल में जाने का तो हमें कभी दुख न हुआ, किंतु वहाँ का अन्न हमारे सामने आते ही चित्त उद्विग्न हो उठता था। तेरह फुट की चौरस कोठरी में दिन रात रहना और प्याज़ रोटी खाना, अन्न में मिर्च और लहसन की भरमार, ओढ़ने और बिछाने के कम्बल में मच्छर और डाँस का दौर दौरा और दीवार की संधियों में खटमल की प्रबलता थी ......।"

तिलक आगरकर को जुर्माने पर न छोड़कर उन्हें कैद की सज़ा देने के कारण लोकमत एकदम असन्तोषमय हो उठा

अनेकानेक सभाएं की गईं। मि० वर्डस्वर्थ, माननीय मांडलिक आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने सर जेम्स फर्ग्युसन के पास एक पत्र भी भेजा कि तिलक और आगरकर को सज़ा रद्द कर दी जाय। पर इसका कुछ भी फल न हुआ। फिर भी लोगों ने अपना सच्चा लोकमत प्रकट करने के लिए इन दोनों के कारावास से छूटने पर इनका सार्वजनिक सम्मान किया।

२६ अक्टूबर १८८२ को प्रातःकाल तिलक और आगरकर डोंगरी जेल से छोड़ दिये गये। उस समय उनके स्वागत के लिये दो हज़ार मनुष्य उपस्थित थे। एक २६ वर्ष के युवक के सम्मान में जहाँ दो हज़ार मनुष्य जय जयकार के नारे लगा रहे हों, उस युवक की उत्तेजना को कितनी स्फूर्ति मिली होगी। जेल में २४ पौंड वज़न खोकर भी उसकी महत्त्वा-कांक्षा कितनी बलवती हो गई होगी। इन दो हज़ार मनुष्यों के खिले हुए चेहरे देखकर उस के हौसले आकाश को छूने के लिये हाथ उठा रहे होंगे। कौन जानता है कि उसका हृदय कह रहा था कि आज जब कोल्हापुर के दीवान की कलई खोलने की मैंने चेष्टा की तो हज़ारों मनुष्य मेरे साथ हैं; कल जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के काले कारनामों की कलई खोलने का मैं प्रयास करुँगा तो लाखों देशवासी मेरे साथ होंगे। उसके विचारों को पैर रखने को ज़मीन मिल गई।

तिलक और आगरकर को गाड़ी में बैठाया गया। धूमधाम से वह जुलूस में लाये गये। भीड़ हटाये न हटती थी। बम्ब

से पूना आते समय खड़को स्टेशन पर डैक्कन कालेज के लोगों ने उनका स्वागत किया। पूना स्टेशन पर तो इस भीड़ का कुछ पार ही न था। ऐसा लगता था मानो वहाँ के नगरनिवासी अपनी अनगिनती संख्या की बाढ़ में, जज के किये हुए मुर्दे-फ़ैसले को, अपने ऊँचे स्वर के थपेड़ों की मार से डुबा देंगे। इन लोगों को जज के मुर्दे फ़ैसले में एक बू आरही थी।

सवेरे हरीराव जी चिपलूनकर के बंगले पर और संध्या को मोरोबादादा के बाड़े में सार्वजनिक सभा करके जनता ने उस न्याय के प्रति अपना निहित क्रोध, और तिलक तथा आगरकर के प्रति अपनी उमड़ती श्रद्धा प्रकट की। तिलक का यह सम्मान देखकर, यह अपार जन-समूह देखकर, कानून भी डर कर फ़र्ग्युसन साहब के घर में जा छिपा। उस समय तिलक ने कानून की विवशता देखी। उस समय तिलक ने जनता की अनंत शक्ति देखी। उन्हें इन दोनों से प्रेरणा मिली।

२१ जनवरी १८८४ के केसरी में आगरकर लिखते हैं—"२५ दिसम्बर की वह काल रात्रि, और अहमदनगर के किले में करवीर महाराज का कारावास, पास में किसी आत्मीय स्वजन के न होने से निराशायुक्त मूर्छितावस्था में पड़े हुए महाराज का संताप और ग्रीन जैसे उद्दण्ड एवं हट्टे कट्टे सोल्जर के साथ उनकी मारपीट, यह सब दृश्य आँखों के आगे आते ही चित्त आज भी उद्विग्न हो उठता है।"

महाराज की मृत्यु कैसे हुई, इसे या तो केवल महाराज

जानते हैं या अहमदनगर क़िले की मूक दीवारें। हमारे देश में अभी एक ऐसे इतिहासकार या कलाकार को जन्म लेना है जो अहमदनगर किले की इन मूक दीवारों से प्रेरणा पाकर महाराज की आत्मा में प्रवेश कर, २५ दिसम्बर की काली-रात को जो घृणित हत्या हुई, उस पर से अंग्रेज़ों का डाला हुआ यह काला पर्दा हटायेगा। आज हमारे पास उस हत्या के सबूत नहीं हैं, पर किले की उन दीवारों से ही कभी न कभी हमें यह सबूत भी मिलेगा। जब पत्थर पसीजता है तो क्या कुछ नहीं हो जाता। किसी हत्या पर राख डालना खेल नहीं है, चाहे राख डालने वाला अंग्रेज़ क्यों न हो, स्वयं औरंग क्यों न हो।

कोल्हापुर के मामले से इस पहले राजनैतिक कैदी को जो लोकसहानुभूति और लोकप्रियता मिली उसने ममतामयी माता की तरह आजीवन तिलक को अपने प्रेम से मुक्त न होने दिया। प्रत्येक संकट में तिलक को सकारण और अकारण दोनों ही प्रकार के मित्रों का अभाव प्रतीत न हुआ। कोल्हापुर के मामले तक तिलक के सार्वजनिक जीवन का केवल डेढ़ ही वर्ष बीता था, किन्तु इतने ही समय से उनके लिये बिना किसी विशेष प्रयत्न के ज़मानतदार मिल गये। भवानी पेठ में उखणे नामक एक गुड़ के बड़े व्यापारी ने तिलक से बिना परिचय होते हुए भी पाँच हज़ार रुपये की थैली ज़मानत के रूप में कोर्ट में रख दी।

आगरकर अपनी पुस्तक में लिखते हैं:—

"कोल्हापुर प्रकरण के विषय में नाना प्रकार के तर्क-वितर्क हुए हैं। कुछ लोगों का कहना है कि यदि बम्बई में न चल कर यह अभियोग पूना में चलाया जाता तो इस का परिणाम कुछ और ही होता। कुछ लोगों का कहना है कि इस अभियोग में पंचलोग यदि सभी भारतीय या आधे से अधिक भारतीय होते तो अवश्य ही उन्होंने पत्र सम्पादकों को निर्दोष सिद्ध कर दिया होता। ...... हमारा तो कथन केवल यही था कि मामला एक बार न्यायालय के सामने पेश हो जाय, और वह सब के सामने प्रकट हो गया। इसके बाद पंचों को जो ठीक जान पड़ा उसी को सर्व-मान्य समझना चाहिये। ......महात्मा सुकरात पर लगाये हुए अपराध की जांच करने वाले दस-पांच ही पंच न थे, बल्कि एथेन्स की प्रजा, राज्य की जनता ही उन्हें दोषी ठहरा चुकी थी और इसी लिये उन्हें विष-पान करना पड़ा। किन्तु कालान्तर में जाकर......यह माना जाने लगा कि उन का निर्णय करने वाले पांच-छः सौ मनुष्यों के हाथ से सरासर भूल हुई।

"वास्तविक बात यह है कि कोई सा भी पक्ष जब तक सत्तारूढ़ रहता है तब तक उसकी भूल दिखाने की सामर्थ्य कोई प्रकट नहीं करता है, क्योंकि ऐसा करने में दंडित होने की संभावना रहती है। ......शासन का सामना करने वाले को अपना सिर हाथों में लेकर आगे बढ़ना चाहिये।

"......प्राणों की परवाह न करते हुए, संसार के कल्याणार्थ ऐसे कार्यों में अपनी प्रतिष्ठा समझने वाले गेलिलिओ, क्रानमर अथवा रामशास्त्री जैसे विचित्र प्राणी भी देखने में कहीं कहीं आते हैं, किन्तु व्यवहार दक्ष मनुष्य ऐसों का अनुकरण कभी नहीं करता।..... सरकार का अर्थ है सत्ताधारियों का समुच्चय।"

यह थे इन युवकों के विचार जो अपनी आयु से, अपने समय से बहुत आगे थे। उन की कच्ची अवस्था ने इन विचारों के बोझ को सम्हाल लिया, उठा लिया और वह जीवन की राह पर इन विचारों को लेकर चल पड़े। पर समय तिलक के साथ कदम न मिला सका। आज जब सन् १६५५ में विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम हिन्दी में कर देने पर कितने ही प्रान्त सिर उठा रहे हैं, तो उस समय सन् १८८२ में यह विचार किसी के हृदय में कैसे घर कर सकते थे? तिलक अपने समय से ५०–६० वर्ष आगे थे।

इस प्रकार अरविन्द के शब्दों में तिलक के जीवन का पहला भाग समाप्त हुआ। इस समय वह अपने मस्तिष्क के विकास में, महाराष्ट्र के विकास में लगे रहे। उन्होंने अपने स्कूल द्वारा, केसरी और मराठा द्वारा लोगों को नई परिस्थिति के लिये तैयार किया। ज़मीन बन चुकी थी, बीज बिखर चुके थे।

फ़र्ग्युसन कालेज द्वारा राष्ट्रीय जड़ें जमाना

२४ अक्टूबर १८८४ को गद्रे के बाड़े में पूना के प्रधान प्रधान व्यक्तियों की सभा हुई। यह प्रस्ताव हुआ कि धन का सदुपयोग हो रहा है या नहीं, इसके लिये प्रतिष्ठित पुरुषों की समिति बनानी चाहिये। इस प्रकार की समिति के लिये सदस्य चुनने का प्रस्ताव तिलक ने उपस्थित किया।

डा० भाँडरकर ने तीसरा प्रस्ताव उपस्थित करते हुए कहा:—

"सात स्वार्थ-त्यागी एवं उदार सुशिक्षित युवाओं ने अपने ही भरोसे स्कूल चलाकर उसे प्रसिद्ध कर दिया है।"

विशेषतः तिलक के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—

"उन सप्त ऋषियों में एक फ़र्स्ट क्लास एल-एल० बी० भी है। यदि यह युवक इस प्राइवेट शिक्षा के फेर में न पड़कर अपने हित के विचार से सरकारी नौकरी कर लेता तो अब तक रावसाहब बन कर आनन्द से अपना जीवन बिता सकता था।"

आरम्भिक सात सदस्यों में तिलक, आगरकर, नामजोशी, आप्टे, केलकर, गोले और धारप थे। २ जनवरी १८८५ को फ़र्गुसन कालेज का उद्घाटन हुआ। ५ मार्च १८८५ को कालेज की नई इमारत की नींव रक्खी गई।

उस समय ऐसे लोगों की कमी न थी जो सार्वजनिक कार्य

भी सरकार को खुश रखने के लिये करते थे। डैक्कन कालेज की नींव डालने वाले भी कुछ ऐसे ही सरकारी पिट्ठू थे। सर जमशेद जो जीजी भाई ने कहा—

"मेरे बापदादों ने डैक्कन कालिज की इमारतों के लिये लाखों रुपये इसी लिये दिए थे कि यह संस्था सरकार के हाथ में रहे। यदि सरकार ने उसे भारतीयों के हाथ सौंप दिया तो वह मृतदाताओं के साथ विश्वासघात करेगी।"

इन विचारों में सार्वजनिक कार्य करने की क्षमता कितनी सिकुड़ गई थी। इन विचारों को देखकर यदि राष्ट्रीयता कांप उठी हो तो आश्चर्य ही क्या ?

अन्त में यह आज्ञा हुई कि डैक्कन कालेज के लिये एक बोर्ड बनाया जाय और उसमें सोसायटी के ५-६ और सरकार के तीन प्रतिनिधि रहें। इस पर सोसायटी ने सरकार से कह दिया कि यदि हम लोगों पर पूर्ण विश्वास हो तो सारा कालेज हमें सौंपकर ग्रांट दी जाय नहीं तो हमें कालेज की आवश्यकता नहीं है। इस पर केसरी ने आलोचना की थी—"डैक्कन कालेज न भी मिला तो परवाह नहीं, परन्तु उस से टक्कर लेने के लिए पूना में फर्ग्युसन कालेज हर दशा में खड़ा रहेगा।"

केसरी ने ठीक ही कहा था। फर्ग्युसन कालेज द्वारा राष्ट्रीय जड़ें जम चुकी थीं।

वही पुरानी कहानी—आपस की फूट

तिलक और आगरकर जब न्यू इंग्लिश स्कूल में आये तभी से उन में परस्पर सामाजिक विषयों पर मतभेद आरंभ हो गया था। सन् १८८४ से न्यू इंग्लिश स्कूल के कार्य-कर्त्ताओं में सामाजिक मतभेद के झगड़े आरंभ हो गये।

सन् १८८५ के केसरी को देखने से स्पष्ट होता है कि अब उस में सामाजिक विषयों का स्थान, राजनैतिक और औद्योगिक लेखों ने ले लिया था।

इस से स्पष्ट है कि उस समय आगरकर का पक्ष पीछे रह गया था। इससे यह भी स्पष्ट है कि उस समय तिलक पक्ष का प्रभुत्व केसरी पर छा गया था।

न्यू इंग्लिश स्कूल के अध्यापकों ने जनता में नये विचार तो फैलाये, पर इस नई चेतना से लोग कुछ भ्रम में पड़ गये। वह यह निश्चित न कर पाये कि क्या करें। कुछ सामाजिक सुधार की ओर झुके तो कुछ राजनैतिक की ओर। स्वयं तिलक के साथियों में एक अनिश्चितता सी दीख पड़ रही थी। तिलक के कुछ साथी अपने हृदय को टटोल रहे थे तो कुछ जनता की नब्ज़ पढ़ने की चेष्टा कर रहे थे।

सन् १८६५ में जब तिलक ने पूना में यह विवाद उपस्थित किया कि राष्ट्रीय महासभा के मंडप में सामाजिक परिषद न होने दिया जाय, तो इसे हम इस भेद भाव की पराकाष्ठा कह सकते हैं

५ सितम्बर १८८६ को बम्बई के माधव बाग में एक विराट सभा हुई जिसमें हिन्दू रीति-रिवाज में सुधार करने के लिये सरकार के हस्तक्षेप के विरोध में आवाज़ उठाई गई। इस एक सभा से सरकार को विश्वास हो गया कि सामाजिक और धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप करना लोगों को एक दम असह्य हो जाता है।

इसी बीच दादाजी विरुद्ध रखमाबाई का प्रसिद्ध अभियोग चला। इस में केसरी के बहुमत ने दादा जी का पक्ष ग्रहण किया और आगरकर ने रखमाबाई का।

किस्सा यह था—रखमाबाई दादाजी की पत्नी थी। दादाजी को क्षयरोग हो गया। रखमाबाई विशेष पढ़ी लिखी न थी किन्तु 'आर्य महिला समाज' के मन्त्री हो जाने के कारण उस की असली योग्यता से कहीं अधिक उसकी ख्याति हो गई। जब दादाजी ने रखमाबाई को घर चलने को कहा तो उसने इन्कार कर दिया। इस पर दादाजी ने अपनी स्त्री को अधिकार में दिलवाने के लिये १२ मार्च १८८४ को हाईकोर्ट में आवेदन पत्र दिया। न्यायमूर्ति पिन्हे ने रखमाबाई के पक्ष में निर्णय किया। २१ सितम्बर १८८५ को दादाजी ने अपील की जिसमें वे जीत गये।

तिलक ने यह प्रतिपादन किया कि स्मृति ग्रन्थों में स्त्रियों का रक्षण करने के विषय में जो उल्लेख है उसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि वह स्वतन्त्रता पूर्वक उदर पोषण करे अथवा कैसी भी हो तो भी पुरुष आदि संबंधियों को निर्वाह के लिये

कुछ न कुछ देना ही चाहिये । स्त्री शिक्षा पर आगरकर का अलग मत था, तिलक का अलग और आपटे का उस से भी अलग।

२५ अक्टूबर के केसरी में पाँच पंक्तियों की एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी इस प्रकार प्रकाशित हुई :—"आज से श्रीयुत बालगंगाधर तिलक बी० ए०, एल-एल० बी० केसरी के प्रकाशक नियुक्त हुए हैं।"

तिलक के प्रकाशक नियुक्त होने पर आगरकर धीरे धीरे केसरी से अपने ६-७ वर्ष पुराने सम्बन्ध विच्छेद करने लगे। एक वर्ष के बाद उन्होंने गोपाल कृष्ण गोखले की सहायता से 'सुधारक' नामक एक साप्ताहिक निकाला। आरंभ से सुधार पर ज़ोर देने वाले ने सुधारक निकालकर अपनी इच्छा की पूर्ति की। तिलक सदा यह कहते रहे कि नया पत्र प्रकाशित कर आगरकर आन्तरिक कलह को प्रकट रूप देने का प्रयत्न न करें। यदि वे चाहें तो अपने नाम से केसरी में लेख लिख सकते हैं।

बात यहीं पर समाप्त नहीं हुई। केसरी से अलग होते ही आगरकर ने केसरी पर ही अपने लेखों की तलवार उठाई। वही आगरकर जिसने केसरी को अपने हाथों से बड़ा किया था आज उसका गला घोंटने को तैयार था। वही आगरकर जिसने तिलक का साथ डोंगरी जेल में भी न छोड़ा था आज उन की निन्दा करने को तैयार था। कहानी वही पुरानी थी—आपस की फूट। एक समय था इस कहानी ने पृथ्वीराज और जयचन्द को अपना पात्र बनाया था, आज वही कहानी तिलक और आगरकर

को अपना पात्र बना रही थी। ज़हर भी तरह तरह के होते हैं। इनमें फूट का ज़हर सब से अधिक विकराल होता है। यह जिस ज़मीन पर गिर जाता है उस के टुकड़े हो जाते हैं।

अब केसरी को ज्ञान-प्रकाश, पूना-वैभव और सुधारक से टक्कर लेनी पड़ी। केसरी अब लगभग तिलक के हाथों में जा चुका था।

तिलक और आगरकर जितना एक दूसरे से विवाद करते थे उतने उनके विचार एक दूसरे से दूर होते जाते थे जैसे पहाड़ी नदी जितना मैदान की ओर बढ़ती है इसके दोनों किनारे एक दूसरे से और भी अधिक दूर हो जाते हैं। केसरी और सुधारक उन के मतभेद के जलते हुए उदाहरण हैं। पर उन की एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, सहिष्णुता इस मतभेद की आग में न जल पाई थी। आगरकर की मृत्यु पर तिलक का हृदय रो पड़ा। बरबस उनकी कलम बहते हुए आँसुओं की बढ़ती बाढ़ में बह चली। संसार के सामने आगरकर पर मृत्यु लेख इस प्रकार आया:—

"मृत्यु के उग्र स्वरूप के सम्मुख छोटे बड़े मतभेद एकदम विलीन हो गये और पुरानी स्मृति के ताज़ा होने से बुद्धि एवं लेखनी गड़बड़ाने लगी। आगरकर ने मूलतः निर्धन परिस्थति में उत्पन्न होने पर भी अपनी शिक्षा का उपयोग द्रव्यार्जन के काम में न करके उसे समाज का ऋण चुकाने में ही लगाया।"

कितना विशाल था तिलक का हृदय! कितनी महान थी उन

की आत्मा !! कितने उदार थे उनके भाव !!!

इतना ही नहीं, आगरकर को लेखनी की प्रशंसा करते हुए तिलक ने लिखा है—"देशी समाचार पत्रों को यदि इस समय किसी कारण से महत्त्व प्राप्त हुआ है तो उस का अधिकांश श्रेय निस्संदेह आगरकर की विद्वत्ता एवं मार्मिकता को है।"

अपने विपक्षी की हृदय से इतनी सराहना, इतनी प्रशंसा कर देना यह तिलक के ही बस की बात थी। भारतीय संस्कृति से उन्हें यह अनोखी देन मिली थी जिसे हम सहिष्णुता के नाम से पुकारते हैं। यह सहिष्णुता यदि हमें सहस्त्रों वर्ष पूर्व राम के चरित्र में मिलती है तो कल तक गांधी के जीवन में भी उस का स्रोत बहता हुआ दीखता है। भारतीय संस्कृति का यह स्रोत न कभी सूखा है, न सूखेगा।

कलह पर कलह और त्याग-पत्र

आपस के इस द्वेष से दूर रहने के लिए सन् १८८९ में तिलक ने सोसायटी से कुछ महीने की छुट्टी ली। इस छुट्टी के समाप्त हो जाने पर कुछ ही दिन बाद तिलक ने अपना त्याग पत्र भी दे दिया। पर उनके प्रतिपक्षी सोसायटी में बने रहे और तिलक को न चाहते हुए भी वहाँ से हटना पड़ा। जिस प्रकार केसरी के छोड़ने पर आगरकर की हार हुई थी उसी प्रकार आज सोसायटी छोड़ने पर तिलक की भी हार हुई।

१४ अक्टूबर १८९० को तिलक ने अपने संबंध-विच्छेद की सूचना सोसायटी को लिख भेजी। इसके पश्चात् दूसरे दिन आजीवन सदस्यता का सविस्तार त्याग पत्र भी भेज दिया। सोसायटी में तिलक के प्रतिपक्षियों की संख्या अधिक बढ़ गई थी अतएव बहुमत के आगे सिर झुकाना या उस संस्था को छोड़ देना यह दो मार्ग ही तिलक के लिए खुले थे। तिलक ने दूसरे मार्ग को ग्रहण किया।

तिलक एक लौह-पुरुष थे। कोई भी निर्णय करके वह पीछे नहीं हटते थे। जब उन्होंने देखा कि कलह पर कलह हो रही है तो यह त्याग पत्र दे दिया। उस के कुछ अंश इस प्रकार हैं:—

"......आज से ११ वर्ष पूर्व हममें से कुछ लोग एकत्रित हुए। इसके बाद हममें से कई लोगों ने किसी एक ध्येय को

सामने रखकर परिश्रम किया, विरोध सहा और अपना उपहास भी कराया। किन्तु आशावाद को नहीं भुलाया। .... ऐसा होते हुए भी विवशता के कारण आज मुझे सोसायटी छोड़नी पड़ रही है। आज कल हम में से कई लोगों की प्रवृत्ति अपने पुराने ध्येय एवं सिद्धान्त को त्याग देने की ओर ही बढ़ती दिखाई दे रही है।

"..........सोसायटी के उत्पादक लोग समवयस्क थे, और ऐच्छिक सिद्धान्त पर किसी विशेष उद्देश्य के लिए एकत्रित हुए थे। साथ ही हमें यह भी ज्ञात हो चुका था कि परस्पर स्वभाव भेद होते हुए भी हम स्वार्थ त्यागकर केवल एक ही उद्देश्य की सिद्ध के लिये एकत्रित हुए हैं, अतएव कार्य तत्परता हमारे स्वभाव भेद को स्वयं भुला देगी। हाथ में लिया हुआ कार्य कठिन एवं उसके फल के प्राप्त होने में विलम्ब था। साथ ही हम लोग भी साधारण श्रेणी के थे। अतएव इस मनोमय विचार से कि मुख्य कार्य के विषय में निष्ठा एवं उत्साह दिखाने पर ही सफलता प्राप्त हो सकेगी हम लोग काम में जुट गए। आरम्भ में कुछ दिनों सब बातें यथानियम हुईं। इसी लिए पास में अधिक द्रव्य न होते हुए भी संस्था की प्रतिष्ठा बढ़गई। उस में नैतिक बल भी आगया। किन्तु इसके बाद सिद्धान्त के बंधन टूटने लगे और व्यक्ति-माहात्म्य बढ़ चला।......परस्पर विवाद छिड़ गये। पार्टियाँ बन चलीं मत्सर बढ़ा और द्वेष उत्पन्न हो गया। एक दूसरे से आँ

मिलाना कठिन हो गया और स्वार्थत्याग, स्वावलंबन और सरलता का आपस में ही मखौल उड़ाया जाने लगा। यहाँ तक कि अन्त में उस से अरुचि भी उत्पन्न होगई।

आरम्भ में इस बात का निश्चय हुआ था कि सोसायटी के सदस्य निर्वाह मात्र के लिए वेतन लें। यह वेतन आरम्भ में ७५ रुपये रक्खा गया। किन्तु इसके बाद दक्षिण फ़ैलोशिप के वेतन पर ध्यान देते हुए वेतन सौ रुपये तक बढ़ा दिया गया। यह नियम भी केवल दूसरों के लिये ही बनाया गया था। क्यों कि आगरकर और मैं —हम दोनों तो चालीस रुपये वेतन पर आजीवन काम करने को तैयार थे। आगरकर ने इस मत को बदल कर थोड़े ही दिनों बाद यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि 'संस्था की साम्पतिक स्थिति के अनुसार वेतन' लिया जाय। उनकी इस विचित्रता पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ।

५ फ़रवरी १८८७ को खुद आगरकर को अधिक वेतन की आवश्यकता थी और ग्रेचुएटी लेना उन्हें पसन्द न था। अतएव उन्होंने सब के वेतन समान रूप से बढ़ाये जाने की सूचना उपस्थित की। इसके मंजूर हो जाने में व्यक्तितः मेरे...... लिए भी लाभ ही था, किन्तु मैंने इस सूचना का विरोध किया। मेरी बात लोगों को पसंद आगई। अतएव आगरकर ने जो बहुमत अपने पक्ष में कर रक्खा था, वह बदल गया। इस पर वे बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने एवं गोखले ने अपना हेतु सिद्ध

करने के लिए नियम बदलने का ही निश्चय कर लिया। ऐसी दशा में मुझे आगे के लिए संस्था में रहना निरर्थक प्रतीत होने लगा।

अब प्रत्येक व्यक्ति मुझे अपने मार्ग का कांटा समझने लगा, मेरे छोटे २ दोष भी बढ़ा कर दिखाये जाँय और अंत में अध्यापक के नाते अयोग्य सिद्ध किया जाऊँ; तब ऐसी दशा में सोसायटी में पड़ा रहना मैं कैसे पसन्द करता।

"लोग यह भी कहते रहे कि मेरी स्वार्थ त्याग वृत्ति केवल ढोंग है और वास्तव में इसके द्वारा मैं अपनी आत्मश्लाघा एवं आत्म प्रतिष्ठा सिद्ध करना चाहता हूँ।

"मैं खुद अपने को निर्दोष नहीं समझता। मैंने खरी खरी सुनाकर कई व्यक्तियों का जी दुखाया है किन्तु कितनी ही बार मैंने यह भी केवल प्रतिक्रिया के ही रूप में किया है। ऐसी अवस्था में मेरा सोसायटी में रहना और निरंतर झगड़ा मचा रहना की अपेक्षा यही उचित होगा कि मै सोसायटी से अलग हो जाऊँ। यद्यपि इससे मूल सिद्धान्त अवश्य नष्ट हो जायगा किन्तु झगड़े से लोग बचेंगे, खैर। आज न्यू इंग्लिश स्कूल या इस शिक्षा संस्था को छोड़ते हुए मुझे यही प्रतीत होता है कि मै अपने जन्म भर के ध्येय को छोड़ रहा हूँ, किन्तु लाचारी है।"

तिलक का यह त्याग पत्र २२ कालमों में समाप्त हुआ था। और लग-भग ४० पृष्ठों में लिखा गया था। २१ नवम्बर १८९० को यह त्याग पत्र सोसायटी की कौंसिल के सामने उपस्थित किया

गया और इसे प्रोफेसर आपटे ने पढ़कर सुनाया।

डा० भांडरकर ने तिलक के त्याग पत्र को पढ़कर उस के नीचे लिख दिया:—"तिलक के त्याग पत्र को मैंने देखा किन्तु इस से यह नहीं जान पड़ता कि वे कुछ कहने सुनने से उसे वापस ले लेंगे।"

२ फ़रवरी १८९१ को कौंसिल की बैठक हुई। उसमें तिलक के मूल दोषारोपण एवं बोर्ड के उत्तर पर विचार होकर यह प्रस्ताव किया गया:—

"तिलक के किये हुए आक्षेप को यह कौंसिल बिल्कुल निराधार समझती है।"

तिलक के पक्षपाती तिलक को अच्छा कहते रहे और आगरकर के पक्षपाती आगरकर को। सच्चे विरोधी आपटे, गोखले आदि थे जिन के कारण सोसायटी का बहुमत प्राय: इसी प्रकार बन गया। इस मूल सिद्धान्त के विषय में बहुमत अपने विरुद्ध होने की बात तिलक को स्वीकृति थी। वे तो यहाँ तक कहते थे कि ऐसे विपयों में बहुत होते हुए भी अल्प संख्यक लोगों को यह अधिकार है कि वे मूल सिद्धान्त के पालन पर ज़ोर दे सकें।

तिलक में जो कमी थी वह यह कि यद्यपि वह बहुमत के सिद्धान्त को सैद्धान्तिक रूप से मानते थे पर व्यवहार में बहुमत के उनके विरुद्ध होने पर भी वह मौन धारण करना नहीं जानते थे। वह लोगों को अपने पीछे ले जाना जानते थे,

लोगों के पीछे चलना उन्हें नहीं आता था। उन में नेतृत्व के गुण कूट कूट कर भरे थे, जो बहुमत के आगे झुकने में बाधक होते थे।

तिलक और आगरकर भारतीय शिक्षा के, डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी के दो भारी स्तंभ थे। पर तिलक में त्याग की भावना जितनी बढ़ी चढ़ी थी, आगरकर में उतनी न थी। फरवरी १८८७ में जब आगरकर को रुपयों की आवश्यकता हुई तो उन्होंने आजीवन सदस्यों के वेतन में वृद्धि के लिए जोर दिया। निर्धन परिवार में पले हुए आगरकर ने जब माँ को लिखा था कि 'मैंने सुख सम्पति की ओर अपनी पीठ करली है' तब उसकी मनोवृत्ति दूसरी थी। आज आर्थिक संकट ने उसे घेर लिया था और वह अपनी पुरानी त्याग भावना खो बैठा था। आज संकटमय परिस्थिति ने उसको डिगाना चाहा था और डिगा दिया था। मनुष्य ही तो था न।

पर तिलक दूसरी मिट्टी के बने थे। उन्होंने अपनी जरूरतों को, अपने आराम को, अपने और अपने बच्चों की इच्छाओं को इतना छोटा रूप दे रक्खा था कि वह देश की समस्या के सामने कोई माने नहीं रखता था। प्रारम्भ से ही इस देश के पुजारी ने अपना सर्वस्व भारत माँ के मन्दिर में चढ़ा दिया। उसने एक वर्ष बिना एक पाई लिये शिक्षा का दान किया। और फिर जब वेतन लेने का प्रश्न उठा तब चालीस रुपये महीने पर आजन्म स्कूल में पढ़ाने का प्रस्ताव किया। आगरकर

भी इस त्याग मूर्त्ति के सामने न ठहर सके। वह बराबर यही कहते रहे कि जब सोसायटी की आर्थिक स्थिति संभल जाय, तब हम लोग भी वेतन बढ़ा सकते हैं। तिलक को यह दलील असह्य थी। उन्हें इस से अरुचि हो गई। इस प्रस्ताव के अन्दर आगरकर का स्वार्थ निहित था। इस प्रस्ताव द्वारा तिलक की निस्वार्थता को ललकारा गया था। पर तिलक अटल रहे। हमारे आज के नेता, हमारे आज के समाज सेवक यदि देश की सेवा के साथ साथ अपनी किये जाने वाले सेवा को मिटा दें, भुला दें तो कहीं तिलक के देशवासी कहाने योग्य होंगे।

रिश्वती क्राफ़र्ड

डेक्कन एज्यूकेशन सोसाइटी से तिलक का अलग होना एक माने में राष्ट्र के लिये अच्छा साबित हुआ—वह कांग्रेस आदि संस्थाओं और सार्वजनिक कार्यों में अधिक योग दे सके। सन् १८८५ की प्रथम कांग्रेस भी पूना में ही की जाने वाली थी, किन्तु कुछ विशेष कारणों से वह पूना में न हो सकी। बम्बई वालों का चित्त न दुखाते हुए पूना में कांग्रेस किये जाने का प्रयत्न करने के लिये तिलक और नामजोशी को पूना निवासियों ने अपना वकील बना कर बम्बई भेजा।

यह स्पष्ट है कि रायबहादुर रानडे को छोड़कर राजनैतिक विषयों का नेतृत्व कम से कम पूना के लिए तिलक को ही मिल चुका था। इधर ६ मई १८८५ को मांडलिक का देहान्त भी हो गया। अगली प्रान्तीय सभा के मंत्री तिलक, नामजोशी और गोपालराव गोखले चुने गये। उसी अवधि में तिलक के लिए एक महत्त्वपूर्ण कार्य और भी तैयार हो रहा था। और वह था रिश्वती क्राफ़र्ड के संबन्ध में।

क्राफ़र्ड साहब एक अँग्रेज़ सिविलियन थे। ये बड़े बुद्धिमान थे, पर थे आलसी। महीना २ भर चैन बाज़ी में उड़ा कर जब काम बढ़ जाता, तब रात भर मेज़ पर एक ओर चुने हुए मामलों के कागज़ों का ढेर लगा कर तथा दूसरी ओर शराब की बोतलें और सिगरेट रखकर यह अपने काम के साथ २ उन दूसरी

सामिग्रियों का भी सफ़ाया कर दिया करते थे। इस प्रकार रात भर काम करके यह दिन में सोते रहते थे। स्वभाव इन्होंने राजा महाराजाओं का सा पाया था। इनके यहाँ एक दरबार लगा रहता था। खुशामदी लोग इन्हें आकाश तक उछालते रहते थे। खास कोंकड़ी मराठी बोलना इन्होंने सीख लिया था जिससे लोगों के साथ घुलने मिलने में आसानी पड़े। ज़िले भर के स्त्री पुरुष इनसे मिलने आते रहते थे। किसी स्त्री को मोतियों का हार उपहार स्वरूप दे देते थे तो किसी को सोने का। इन का दरबार जगमगाता रहता था। कोई कहता था कि राजा-महाराजा इन के सामने पानी भरें, तो कोई कहता दिल हो तो ऐसा।

पर जब दरबार समाप्त होने पर क्राफ़र्ड साहब ज़मीन पर पैर रखते तो मालूम होता कि इस दरबारी ऐश्वर्य ने जेब खाली करदी है। फलतः यह रिश्वत की ओर झुके। इशारा पाते ही रिश्वत के लिए लोग निकल पड़ते। रुपयों की थैली पर थैली लाकर डाल दी जाती। क्राफ़र्ड साहब बने रहें, रुपयों की क्या कमी। अंग्रेज़ों के विरुद्ध उँगली उठाना कोई आसान काम न था। अंग्रेज़ों का शासन था, इस लिये सभी अँग्रेज शासक थे। और फिर शासकों में कोई निकम्मा थोड़े ही हुआ करता है? यह कमज़ोरी तो शासितों की है, दलितों की या बेज़बानों की है।

पर भगवान कहीं न कहीं हैं ज़रूर जो यह सब देखते

रहते हैं। ऐसा न होता तो किसी भी अति का अन्त नहीं होता, अतिक्रमण ही होता रहता। पापी अपने पाप से स्वयं न डरता। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में ज़रूर एक चोर दरवाज़ा है, जिसमें से भगवान चुपके से आजाते हैं और यह दरवाज़ा बंद कर देते हैं। तभी तो चोर का दम घुटने लगता है। सज्जन चोर को देख कर घबराता है और चोर भगवान को देख कर।

कमिश्नर क्राफ़र्ड साहब भी घबरा गए। क्राफ़र्ड साहब यदि घबरा गए तो क्या हुआ। तिलक को देखकर तो ब्रिटिश साम्राज्य घबरा जाता था। क्राफ़र्ड बेचारा तो एक मुहरा था, एक अकेला इकाई। जब अँग्रज़ों ने देखा कि यह मुहरा पिटने वाला है तो उन्होंने कहा इसे पिट ही जाने दो। अतएव बम्बई के सैक्रेट्रियेट में गुप्त रूप से जाँच आरंभ हुई। २४ जून १८८८ को इन्सपैक्टर जनरल औमनी को यह मामला सौंप दिया गया।

औमनी साहब अपनी रिपोर्ट में काफ़ी साहस कर गये, बहुत कुछ कह गये। उन्होंने कहा—

"काले हिन्दुस्तानी मात्र को झूठा और मुँह देखी बात करने वाला मानने की हम योरोपियनों की आदत सी पड़ गई है। इसलिये स्वयमेव ही अपने किसी भाई के विरुद्ध कोई मामला खड़ा करने या उसकी करतूत को प्रकाश में लाने का हम लोग साहस नहीं कर सकते।"

इतनी बात होने पर भी सबूत देने वाले सामने नहीं आते थे। उन्हें डर था कि यह अंग्रेज़ आपस में मिलकर एक हो जायेंगे और अन्त में हम सबूत देने वाले हिन्दुस्तानी मुफ्त में मारे जायेंगे।

इसी बीच में यह खबर फैल गई कि क्राफर्ड साहब भाग गये हैं। ब्रौमनी साहब ने आस पास के स्टेशनों की नाकेबन्दी करदी। इधर क्राफर्ड साहब कल्याण स्टेशन पर उतर कर नाव से बम्बई जाने का निश्चय कर चुके थे। किन्तु इसके पूर्व ही बम्बई पुलिस ने इन्हें पकड़ लिया। पूना लाये गये और फिर सत्तर हज़ार रुपये की ज़मानत पर छोड़े गए। क्राफर्ड चाहता था कि यह अभियोग बम्बई में चले, जहाँ हाईकोर्ट में योरोपियन जूरी हैं।

२ अक्टूबर १८८८ के केसरी में तिलक ने लिखा कि लोगों को अपनी जानकारी की समस्त बातें प्रकट करके न्याय करने में पूरी सहायता पहुँचानी चाहिए।

२३ अक्टूबर १८८८ को पूना के कौन्सिल हाल में क्राफर्ड कमीशन का कार्य आरंभ हुआ। विलसन कमीशन के अध्यक्ष थे। सरकार की ओर से एडवोकेट जनरल लैथम थे। लैथम ने अन्त में कहा —"इस जाँच से सभी को बुरा लगा है। हमने जहाँ तक हो सका है क्राफर्ड साहब की रिआयत ही की है, किन्तु आखिर हमें भी अपना पक्ष संभालना था। आपने यदि यह कहा कि क्राफर्ड साहब अपनी निर्दोषता सिद्ध न कर सके तो

स से हमें बहुत दुख होगा। इस में अकेले क्राफर्ड की बदनामी नहीं है, बल्कि सारी अंग्रेज जाति को इससे कलङ्क का टीका लगी जायगा।"

लैथम साहब के शब्द समाप्त होने के पहले मैं जान-बूझकर कुछ नहीं बोला जिससे पाठक स्वयं इनके शब्दों को तोलें, समझें और समझावें। मेरी समझ से इनकी बहस को सुनकर यदि न्याय ने अपना सिर पीट लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जहाँ सरकारी वकील का यह ढंग था वहाँ अपराधी के वकील का क्या कहना।

सरकारी वकील की इस बहस के बाद यह स्पष्ट था कि निर्णय कैसा होना चाहिए क्या होना चाहिये ? वही हुआ। कमीशन ने रिश्वत का अपराध झूठा ठहराया। स्टेट-सैक्रेटरी ने भी इस निर्णय को ठीक माना। न्याय का कार्य सूर्य की तरह है—अपनी प्रचन्ड किरणों से अँधेरी से अँधेरी जगह को ढूँढ़ लेना। और यहाँ क्या हो रहा था अँधेरे की बौछार करके अँधेरी से अँधेरी जगह को ढूँढ़ना। होता क्या ? कुछ नहीं मिला। ली हुई रिशवत भी दिखाई न दे सकी। सामने खड़े हुए रिश्वती (क्राफर्ड) को न्याय न देख सका।

संभवतः लोकमत से डर के स्टेट सैक्रेटरी ने क्राफर्ड को नौकरी से अलग कर दिया। इस प्रकार क्राफर्ड साहब रिश्वतखोरी के अभियोग से बचा दिये गये और तहसीलदार रिश्वत की बात स्वीकार कर जाल में फँस गये। विलायत पहुंचने पर

काफर्ड की पत्नी को पेन्शन का भी प्रबन्ध कर दिया गया।

केसरी ने आरम्भ से ही स्वीकृत देने वालों का पक्ष लिया था अतएव तिलक रह रह कर उनके भविष्य को सोचने लगे। तिलक के साधन सीधे थे। सरकार के घुटने तोड़ने के लिये पहले वह केसरी की चोट करते थे। जब उस का कोई प्रभाव न पड़ता था तो वह लोकमत संग्रह करते थे। जनता पर दौड़ कर, जनमत बना कर, सरकार को झकझोरते थे। जनमत की चोट खा कर सरकार सिहर जाती थी।

अब भी उन्होंने वही किया। केसरी के लेखों का विशेष प्रभाव न पड़ने पर उन्होंने १ सितम्बर सन् १८६८ को पूना निवासियों की बहुत बड़ी सभा की। सभा के निवेदन पत्र पर रायबहादुर रानडे, भंडारकर, देशमुख, बाबा महराज, तुलाजी-राव राजे और नवाब अली मर्द खाँ आदि सभी पूना के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। रायबहादुर बूलकर ने अध्यक्ष पद से कहा:—"भारतियों पर दोष डालकर चोर को साहूकार सिद्ध करने के ही लिये सारा प्रयत्न हो रहा है।"

दूसरा प्रस्ताव डा० गाडगिल ने उपस्थित किया और तिलक ने उस का अनुमोदन किया। वास्तव में यही प्रस्ताव मुख्य था और इस में तहसीलदारों को दिये हुए वचन के पूर्ण कराने का आग्रह किया गया था।

गत ६ वर्षों में इस प्रकार की सार्वजनिक सभा में तिलक का यह पहला व्याख्यान था। तिलक इतने से शान्त न थे। विलायत

में विलियम डिग्बी के द्वारा वह उन तहसीलदारों के विषय में पार्लियामेंट में बिल पेश कराना चाहते थे। अंत में बम्बई सरकार ने आठ तहसीलदारों की बलि चढ़ा ही दी। शेष व्यक्तियों की रक्षा के लिये भारत सरकार ने शिमले में अपनी कौंसिल के सामने एक बिल पेश किया।

तिलक के इन प्रयत्नों का एक अच्छा प्रभाव यह पड़ा कि अब यह तहसीलदार रिश्वती न समझे जाकर क्राफर्ड साहब की टोपी उछालने वाले समझे जाने लगे। इस आंदोलन के अंत में इन तहसीलदारों ने, तिलक के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन को एक चांदी की घड़ी और अमूल्य दुपट्टा भेंट किया।

तिलक के दोनों हाथ--केसरी और मराठा

सन् १८८६ से शिक्षा के अतिरिक्त अन्य उद्योग करने के लिये तिलक खाली हो गये थे। अपनी आजीविका के लिये तिलक ने दो उद्योगों की योजना की। एक कपास लोढ़ने की जीनिंग फैक्टरी और दूसरी लॉ क्लास खोलना। इस कारखाने में लाभ की जगह हानि होती रही और इस से तिलक की आजीविका को कोई सहायता नहीं मिली।

हाँ 'लॉ क्लास' से अवश्य लाभ होता रहा। सदाशिव पेठ के विचूरकर के बाड़े में जहाँ तिलक रहते थे वहीं यह क्लास खोला गया। ये क्लास १८६६ तक चलते रहे। इस कक्षा से तिलक को लगभग डेढ़ सौ रुपये महीने मिल जाते थे। इस से उनका घर खर्च अच्छी तरह चल जाता था।

आगरकर के केसरी से अलग हो जाने पर आर्य भूषण प्रेस और केसरी एवं मराठा ये दोनों पत्र मिलाकर एक संयुक्त कारखाना सा माना जाता था। वासुदेवराव केलकर, हर नारायण गोखले और तिलक ये तीनों उसके मालिक थे। केसरी में तिलक अधिक लिखते थे और, मराठा में वासुदेवराव केलकर। सन् १८६१ में रमाबाई आदि के मामले से इन दोनों में मत भेद हो गया। एक ही विषय पर कभी कभी केसरी और मराठे में विरुद्ध लेख भी निकल जाते थे। यह, आवश्यक सा प्रतीत होने लगा कि दोनों पत्र किसी एक ही व्यक्ति के अधिकार में सौंप दिये जाँय।

वासुदेवराव केलकर को किसी सार्वजनिक कार्य में कोई दिलचस्पी न थी। वह अपने अवकाश का समय मनोरंजन के साधनों में ही बिताते थे। वह प्रायः नाटक मंडली में ही जमे रहते थे। वासुदेवराव की यह दिनचर्या तिलक को पसन्द न थी। उधर पत्र और प्रेस का ऋण चढ़ रहा था। कुल हिसाब लगाने पर इक्कीस हज़ार का ऋण निकला। इसे अपने सिर कोई लेने को तैयार न था। प्रेस और केसरी दोनों से लाभ हो सकता था अतएव वह ऋण इधर लगा दिया गया। प्रेस पर चौदह हज़ार और केसरी पर सात हज़ार का ऋण लगा दिया गया। तिलक ने इन लोगों से कहा—"यदि तुम कामधेनु केवल पत्रों को ही समझते हो तो सात हज़ार ऋण सहित दोनों पत्र खुशी से ले लो, मैं चौदह हज़ार के ऋण सहित प्रेस लेने को तैयार हूं।" गोखले और केलकर ने सोचा कि प्रेस ले लेने पर तिलक अपना अलग पत्र निकालेंगे, और निस्संदेह उसे लोक प्रिय बना सकेंगे। तब मराठा और केसरी का प्रभाव अपने आप कम हो जायगा। अतएव इन्होंने मिलकर एक नई शर्त रक्खी कि जो व्यक्ति प्रेस ले वह अपना अलग पत्र न निकाले। तब तिलक ने सात हज़ार के ऋण सहित दोनों पत्रों को ले लिया।

इस नई शर्त को देख कर कोई भी विस्मित हुए बिना न रहेगा। तिलक का प्रतिभावान होना उन के साझीदारों को खटक रहा था। तिलक को अपनी प्रतिभा की अलग से क़ीमत देनी पड़ी।

कर्मयोगी

तिलक सही मानों में कर्मयोगी थे। किसी का भी आर्त्त-स्वर सुनकर वह उधर सहायता के लिये दौड़ पड़ते थे—चाहे वह आर्त्तस्वर कराहती हुई राजनैतिक, तड़पते हुए धर्म या बिलखते हुए समाज के मुँह से क्यों न निकला हो। वह यह नहीं देख सकते थे कि अँग्रेज़ सरकार तड़पती हुई भारतीय-राजनीति को घूँट पानी भी न दे, या हमारे ढहते हुए धर्म को बचाने के बहाने ईसाई-धर्म में से ईंट-पत्थर निकाल कर उस पर चुन दे या समाज का हाथ पकड़ कर उसे पाश्चात्य प्रलोभनों की प्रदर्शनी में ले जाय और फिर कहे कि इन में से जो चाहो लेलो। वह अर्जुन की तरह जिधर भी विपत्ति अधिक देखते थे, उधर ही बढ़ जाते थे। सन् १८६० से १८६७ तक वह नीचे लिखी समस्याओं में जुटे रहे:—

(१) सम्मति वय का कानून

(२) ग्रामण्य प्रकरण

(३) रमाबाई का शारदा सदन

(४) हिन्दू मुसलमानों के झगड़े

(५) पूना की ११वीं कांग्रेस

(६) धारा सभा

सम्मति वय का क़ानून

इस विवाद में तिलक को डा० भांडरकर जैसे महारथियों से टक्कर लेनी पड़ी। इस विवाद से उन की ख्याति प्रान्त में ने

रह कर देश भर में फैल गई। तिलक साधक थे जो अपनी साधना द्वारा, अपनी कर्म निष्ठता द्वारा अपने सोने जैसे शरीर को सिद्धान्त की कसौटी पर तपाते रहे। वह कठोर नियमों को बनाना ही न जानते थे उन का पालन करना भी जानते थे। उन के नियम किसी पत्थर पर खुदे निर्जीव शब्दों का समूह न था, वरन् हृदय में स्पंदन करती हुई प्रयत्नशील चेष्टाओं का समन्वय था। उन का कहना था कि जिस समाज में हमें रहना है उसकी समझ के विरुद्ध जो बात हम स्वयं नहीं कर सकते उसे कानून का डर दिखाकर पूरी कराना सरासर कायरता है। किंतु तिलक की यह सूचना सुधारकों को प्रसन्न नहीं आई। केवल ३ व्यक्तियों ने इस पर हस्ताक्षर किए।

१० नवम्बर १८६० को जोशी हाल में एक सभा हुई। इसके अध्यक्ष थे रा० ब० नूलकर। इस सभा का मुख्य उद्देश्य तिलक की उपसूचना पर वादविवाद करना था। तिलक ने कहाः—

"हम लोगों में सुधार विषयक वाक्य पांडित्य बहुत बढ़ गया है। किंतु सुधार किया जाय? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारे जन-समाज का सुधार होना ही प्रधान कर्त्तव्य है। ऐसी दशा में जन-समाज से संबंध विच्छेद कर हम कुछ नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये विधवा-विवाह का ही प्रश्न ले लीजिए। इस निर्विवाद एवं आवश्यक सुधार का महत्त्व समझते हुए भी अधिकांश सुधारक अपने परिवार में ही इस का अमल नहीं करा सकते। अतएव

उचित यही होगा कि प्रत्येक व्यक्ति किसी सुधार को अपने घर से ही आरंभ करके उस उदाहरण के द्वारा लोगों का चित्त अपनी ओर खींचने का प्रयास करे।

"जिस कानून के लिये आज विवाद खड़ा हुआ है उसकी हमें आवश्यकता ही न रहेगी यदि लड़कियों का विवाह सोलह वर्ष में करने लगें।"

ऊपर के तिलक के कथन से यह स्पष्ट है कि अधिकांश लोग तिलक को समझ न सके। और जो अल्पांश समझ सके उन्होंने नासमझ बने रहने में ही अपनी कुशल समझी। वे जानते थे कि यदि वे अपनी समझ से नासमझ न बने रहे तो तिलक उनके निर्बल और शिथिल विचारों पर ही चोट करेंगे। तिलक की कर्त्तव्यनिष्ठा से वे डरते थे। तिलक की राष्ट्रीय-अनुभूति तक वह पहुँच न पाते थे। इन लोगों ने दिखाने को तो तिलक से भी अधिक लम्बे-चौड़े विचार दिखा दिए, पर तिलक के समान उनके पास चौड़ा सीना न था। विचार बिखर गये। वह उन्हें समेट न पाये। अपने विचारों से वे आप डर गये। उन्हें भय था कि तिलक कहीं उन्हें त्याग के लिये न ललकारें। उन के स्वार्थ को न बांध दें। उनके घर तक न आ जांय। और वही हुआ।

बिल को पास करने के लिये ज़ोर देते हुए नूलकर और तैलंग जैसे सुधारकों ने कहा कि इस विषय में हिन्दू-शास्त्र एवं रूढ़ियों को महत्व न देकर हम्हें उन्हें एक ओर रख देना चाहिये।

दूसरी ओर भांडारकर शास्त्र प्रमाण द्वारा यह सिद्ध करने लगे कि यह बिल शास्त्रोक्त है। तिलक ने दोनों पक्षों का खंडन किया।

जब तैलंग ने कहा—

"राजाज्ञा का उल्लंघन न करते हुए धर्माज्ञा के प्रतिकूल जाने से जो पाप लगता है उस का प्रायश्चित किसी ब्राह्मण को दो आने दक्षिणा देकर या दो तीन मिनट तक नाक कान दबानें से हो सकता है।"

यह सुनते ही तिलक आगबबूला हो गये। उन को हिन्दू धर्म पर, उस की महानता पर, उस की उदारता पर गर्व था। वह जानते थे कि हिन्दू-धर्म गंगा के समान पुरातन है जिस के किनारे बदल गये, जिस की राह बदल गई, पर जिसकी अबाध धारा वैसे ही बह रही है। तिलक को यह असह्य था कि कोई इस पवित्र धारा को दूषित करे या दूषित कहे। जब तैलंग ने हिन्दू धर्म का मखौल उड़ाना चाहा तो वह उन पर टूट पड़े—

"हिन्दू प्रथाओं के बारे में इस प्रकार का मखौल उड़ाने का साहस हमारी समझ से मिशिनरियों के अतिरिक्त किसी का नहीं हो सकता। यह मान लेने पर भी कि अंग्रेज़ी विद्या से हमारी धर्म-श्रद्धा उठ चली है यदि हम अपनी पुरानी प्रथाओं अथवा उन के समर्थनों का तिरस्कार करें तो वह हमारी सभ्यता और नीतिमत्ता को कभी शोभा नहीं देगा।"

तिलक ने शास्त्रों के अनेक प्रमाण देकर भांडारकर को गलत सिद्ध किया। तिलक अपनी शक्ति को जानते थे। वह

लोगों की निर्जीव शक्ति में अपनी शक्ति का संचार करना भी जानते थे। इसीलिये केसरी का मत प्रकट होते ही उस बिल के विरुद्ध आम सभाएँ होने लगीं।

आमरण्य--प्रकरण

तिलक का यह दृढ़ विश्वास था कि विदेशी राज्य के रहते हुए समाज-सुधार की अपेक्षा राजनैतिक सुधार अधिक आवश्यक है। हाँ कुछ लोग अपनी रुचि के अनुसार समाज-सुधार में ही हाथ लगा लें, पर अकर्मण्य हो कर न बैठें। कर्म योगी के नाते वह कुछ न कुछ करते रहने पर ज़ोर देते रहे, ठीक उसी प्रकार जैसे आज नेहरू हमें कुछ न कुछ करने के लिये बराबर झकझोर रहे हैं। किसी भी सुधार के लिए ज्ञानोपार्जन आवश्यक हो जाता है। तिलक ने इस ज्ञानप्रसार के लिये सुधारकों पर ज़ोर दिया।

तिलक के केसरी ने उन्हीं बातों को ग्रहण किया जो तर्क में, विचार में, व्यवहार में ग्राह्य थीं। एक ओर उन्होंने पुनर्विवाह का विरोध किया और दूसरी ओर पुरुषों के एकाधिक विवाह की निंदा की। तिलक ने कभी कभी यहाँ तक लिख दिया कि अविवाहित रह कर देश सेवा में अपने जीवन लगा देने का मार्ग श्रेष्ठ है। वह तो स्त्रियों के भी अविवाहित रह कर जीवन बिताने के पक्ष में थे। वह स्त्री शिक्षा के विरोधी न थे यद्यपि स्त्री शिक्षा की कुरीतियों पर छींटे फेंकने पर भी वह कभी न चूकते थे।

तिलक और सुधारकों में मन-मुटाव बढ़ रहा था। ग्रामण्य प्रकरण की घटना से सुधारकों को तिलक का विरोध करने का अवसर मिल गया। यह घटना क्या थी? इस का मूल कारण क्या था? सुनिये। पंच हौद की चाय इस का मूल कारण थी। इस के कारणीभूत व्यक्ति थे गोपालराव जोशी। जोशी जी इधर की उधर लगाने में प्रवीण थे या यों कहिये नारद थे। इन का आना जाना मिशिनरियों के यहाँ खूब था। फिर क्या था जिस घटना की कमी थी, वह जोशी जी ने स्वयं पूरी कर दी। पंच हौद मिशन स्कूल के हैडमास्टर की ओर से उन्होंने ५०-६० सुशिक्षित व्यक्तियों को व्याख्यान के लिये आमंत्रित किया। फलस्वरूप रानडे और तिलक आदि अनेक व्यक्ति वहाँ उपस्थित हुए। वहाँ पर व्याख्यान तो साधारण हुआ पर उसके बाद जो कुछ हुआ वह असाधारण था। व्याख्यान के पश्चात मेज़ पर चाय और बिस्कुट लग गये। ईसाइयों के हाथ की बनी चाय कौन पिये, कौन न पिये? कौन किस से मना करे, कौन किस से हाँ करे? एक ओर लोक अपवाद का भय था तो दूसरी ओर असभ्य आचरण का।

उधर राई का पर्वत करने वाले जोशी जी ने तुरंत ही पूना वैभव में मिशन हाउस में जाने न जाने वाले सब के नाम प्रकाशित करा दिये। पूरे पूना में यह समाचार ज़ोरों से फैल गया, पर इस से एक लाभ हुआ। तिलक और रानडे एक पल के लिये एक हो गये। नदी-नाव का संयोग हो गया। जो लोग

चाय में सम्मिलित भी न हुए थे और जिनके झूठे नाम प्रकाशित करा दिए गये थे उन्होंने पूना वभव के विरुद्ध मान-हानि का अभियोग चलाया। सम्पादक को दो सौ रुपये जुर्माने के देने

अब देखना यह था कि बालासाहब नातू जो सनातन धर्म के ठेकेदार बनते थे उनकी नाक लम्बी है या सुधारकों की। दूध फट चुका था। बात बिगड़ चुकी थी। जोशी जी की लगाई हुई आग लग चुकी थी। अपनी नाक रखने के लिये बालासाहब नातू जगतगुरु शंकराचार्य के पास न्याय की भीख मांगने गये। जगतगुरु ने देखा इस मामले में आधा नगर वादी और आधा प्रतिवादी है। अतएव पूना के ही किसी व्यक्ति को पंच बनाने का उनका साहस न हुआ। बहुत सोचने के पश्चात उन्होंने त्र्यंबक शास्त्री निपानीकर और न्याय गुरु विन्धु माधव शास्त्री को सभी अधिकार देकर पूना भेजा।

नातू पक्ष वालों ने जहाँ-तहाँ शोर किया कि जगतगुरु ने कमीशन भेजा है। जांच होगी। अभियोग चलेगा। प्रार्थना पत्र देने वालों में सात व्यक्ति बीच में ही ठंडे पड़ गये। उन्होंने कहा कि हम अभियोग को यथानियम चलाना नहीं चाहते। हम ने तो केवल सुनी सुनाई बातों को ही श्रीमान की सेवा में निवेदन किया था। कमीशन का निर्णय हुआ। ये लोग जाति-च्युत कर दिये गये। पर इन लोगों ने इस बहिष्कार की तनिक भी परवाह न की।

रानडे जैसे सुधारक ने तो शंकराचार्य के सामने सिर झुका,

लिया। और बालासाहब नातू जैसे धर्माभिमानी आचार्य पीठ का नाश करने में लग गये। यहाँ तक कि शंकराचार्य को भी बहिष्कृत ठहराने का प्रसंग आ गया। इसी समय ह्यूम साहब का पूना में आगमन हुआ। इसी समय आगरकर ने तिलक पर फिर आक्रमण किया। उन्होंने सुधारक में लिखा:—

"तिलक चमगादड़ की तरह हैं क्योंकि धर्माभिमानी लोग तो इन्हें अपने में शामिल करते नहीं और एक प्रकार से सच्चे सुधारक होते हुए भी उन लोगों में प्रकट रूप में सम्मिलित होने का इन में साहस नहीं है।"(१४-११-१८६२ के सुधारक से)

कितनी असंगत है यह तुलना! कितना निकृष्ट है यह उदाहरण!!

पर आगरकर इतने पर ही शान्त होकर बैठने वाले व्यक्ति न थे। वह ज़हर उगलना खूब जानते थे। और उन्होंने ज़हर उगला। ऊपर की आलोचना के साथ ही साथ उन्होंने एक यह वाक्य भी कह दिया था:—"धर्माभिमानी कहने वाले तिलक ईसाइयों के हाथ की बनी हुई चाय नहीं पी लेते हैं बल्कि स्टेशन पर के मुसलमान या पुर्तगाली रसोइये तक के हाथ का पका हुआ चावल खाने में भी वह आगे पीछे नहीं देखते। ऐसी दशा में ग्रामीण प्रकरण की उन्होंने व्यर्थ ही के लिये प्रतिवादियों की ओर से खटपट शुरू कर दी है।"

२८ नवम्बर १८६२ के केसरी में तिलक ने इसे मिथ्या कहा इस असत्य का खंडन किया। किंतु फिर भी आगरकर ने।

अपनी ज़िद न छोड़ी।

अंत में अदालत से निर्णय कराने की बात आई और लिख कर दावा भी तैयार कर लिया गया। दोपहर में वह अदालत में पेश होने को ही था कि माधवराव रानडे स्वयं तिलक के घर पहुँचे और उनसे मामला न चलाने के लिये अनुरोध किया। तिलक ने कहा—"मैं इस के लिये तैयार हूँ किंतु आगरकर को अपना आक्षेप वापस लेना चाहिये।"

रानडे ने इसका उत्तरदायित्व अपने सिर ले लिया क्योंकि जाँच करने पर उन्हें पता चला था कि यह आरोप मिथ्या है। तिलक की विजय हुई। आगरकर को क्षमा मांगनी पड़ी। ४ दिसम्बर १८९२ के सुधारक में आगरकर ने तिलक से क्षमा याचना की। मानहानि के अभियोग में आगरकर को दूसरी बार क्षमा मांगनी पड़ी।

उधर जगतगुरु शंकराचार्य की आज्ञा हुई कि पूना के झगड़े को दूर करने के लिये वह अपना वक्तव्य सुनायेंगे। फिर क्या था। १६ दिसम्बर १८९२ को कुरुंदवाड़ में सब लोग उनके पास पहुंचे। सभा क्या हुई अच्छी खासी कचहरी बन गई। वहाँ कचहरी का सा शोर गुल था, प्रतिशोध की भावना थी। तू-तू मैं-मैं शुरू हो गई। कचहरी लग गई। बाला साहब नातू किसी भी तरह तिलक को नीचा दिखाना चाहते थे। इधर तिलक ने भी कुछ कुन्जी घुमा दी। अतएव जगतगुरु कुछ भी निर्णय न कर सके। दुविधा में

पड़े आदमी को संभ्रम करने का सब से सुलभ साधन यही है कि उस से निर्णय मांगने पर बराबर ज़ोर दिया जाय, जल्दी की जाय। तिलक ने भी यही किया। लोग निर्णय सुनने के लिये पागल से हो उठे।

इस प्रकार लगातार दो वर्षों तक यह प्रकरण जोरों से चलता रहा और अंत में अशान्ति के कोलाहल में न जाने कहाँ डूब गया। समय के साथ साथ जनता भी इसे भूल गई।

राजनीति में कौन मुहरे किसका साथ देंगे यह बताना कठिन है। सन् १८९५ मे राष्ट्रीय महासभा और सामाजिक परिषद के झगड़े में तिलक और बाला साहब नातू एक होकर सुधारकों से झगड़े। राजनैतिक-आंधी ऐसी ही होती है। मित्रों को बिखेर देती है। शत्रुओं को एक कर देती है।

किसी किसी जाति में हुक्का बन्द कर देना फांसी के हुक्म से भी अधिक बुरा समझा जाता है। जो सुधारक और सुशिक्षित लोग बढ़ बढ़ कर बातें करते थे जब उनके ऊपर आ पड़ी तो वे भी चौकड़ी भरना भूल गये। और तो और स्वयं तिलक भी जानते थे कि यह बीमारी कितनी गन्दी है, छूत की है। यद्यपि वे धार्मिक कृत्यों को नहीं छोड़ बैठे थे पर जब तक यह प्रायश्चित प्रकरण चलता रहा तब तक विवश होकर उन्हें कुछ मित्रों के संसर्ग और पंक्ति भोज से वंचित रहना पड़ा। इस बहिष्कार से उन्हें कितना कष्ट हुआ होगा विशेषकर जबकि यह बात उनके स्वभाव में आ गई थी कि चार छः आदमी उनके

यहाँ आते जाते रहें। पर अभी क्या हुआ था। अभी तो सोने को और तपना था। १८९२ में तिलक के बड़े पुत्र विश्वनाथ का उपवीत संस्कार था। १८९३ में उनकी बड़ी पुत्री का विवाह था। और यह सोना कैसे तपाया गया, सुनिये। इन दोनों कार्यों के लिये तिलक को कोई ब्राह्मण तक मिलना कठिन हो गया। पूना में बहिष्कृत लोगों के लिये जो एक उपाध्याय रहता था, उसी से तिलक ने अपने यहाँ का सब कार्य कराया। सुनते ही चौंक पड़े। आखिर क्यों? क्या हरिश्चन्द्र डोम के हाथ न बिके थे? क्या वह कोरी कथा थी?? कल्पना थी??? वह भी इसी देश के थे। और राजा थे। देश पहले बलिदान मांगता है, तब कहीं किसी के नेतृत्व को मानता है।

हाँ तो तिलक को उपाध्याय तो जैसे तैसे मिल गया। पर रसोइये पर आकर गाड़ी फिर रुक गई। कोई आने को तैयार न था। बेचारी तिलक की पत्नी ही अपने हाथ-पैर तोड़ती रही। अंत में तिलक के एक राजवंशी मित्र ने अपने रसोइयों को भेज कर किसी प्रकार कार्य निपटवाया।

यह है राजनीति का बखेड़ा। किसी के बच्चों को घास की रोटी खानी पड़ती है तो किसी की बेटी के ब्याह में रोटी बनाने वाला ही नहीं मिलता। आप इस राजनीनि के झगड़े में मत पड़ियेगा। दोनों वक्त की रोटी दूभर हो जायगी। यह त्याग और बलिदान के किस्से सुनना और सुनाना एक अलग बात है और मुसीबत को ओढ़ कर मौत के मार्ग पर चलना एक अलग

बात। अभी आप दो एक कदम चले हों तो वापस आजाइये। लड़खड़ाते पैरों से मंजिल नहीं मिला करती? केवल दो इंच की सफेद टोपी लगाने से नेतृत्व नहीं मिला करता??

क्षमा कीजियेगा आप लोगों को गलत रास्ते जाते देखकर मैं भी भटक गया था। इधर रानडे को भी अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ा। वह भीरु थे। समाज से डरते थे। अपने कृत्यों से भी आप डरते थे। उन की इस भीरुता के प्रमाण स्वरूप मैं उनमें और उनकी बहिन में हुई वार्ता को नीचे दे रहा हूँ:—

"बहिन—जब तुमने चाय नहीं पी तो इसे प्रकट करके दोष मुक्त क्यों नहीं हो जाते? व्यर्थ ही में लोकापवाद के भागी क्यों बन रहे हो?

रानडे—ऐसा कैसे हो सकता है? मैं जब समाज में रहता हूँ और उन्हीं में से एक कहलाता हूँ, तो फिर उन लोगों ने जो कुछ किया है यदि उससे मैं बचा भी होऊँ तो भी यही कहा जायगा कि मैं भी उसमें सम्मिलित था। क्यों कि मैं चाय पीने न पीने में कोई विशेष पाप-पुण्य नहीं समझता, किन्तु जिन लोगों के साथ मुझे रात दिन उठना-बैठना पड़ता है उन्हें छोड़ कर अलग हो जाना मैं कभी पसन्द नहीं करूंगा।"

वह प्रायश्चित करके इस बखेड़े को, समाज को प्रसन्न कर, खत्म करना चाहते थे। वह प्रायश्चित करके इस बखेड़े को, अपने दोस्तों को रुष्ट कर, और बढ़ाना भी न चाहते थे। प्रायश्चित के लिए एक दिन नियत किया गया। नगरकर

वकील ने सारी तैयारियाँ कीं। रानडे एक दिन के लिये पूना आये। प्रायश्चित से निपट कर वह फिर लोनावला चले गये। इस प्रायश्चित पर बहिन ने भाई को धन्यवाद दिया। इस प्रायश्चित पर पत्नी ने पति को कोसा। इस प्रायश्चित पर सुधारकों ने रानडे को बुरा भला कहा।

किन्तु तिलक की दशा रानडे से एक दम विरुद्ध थी। यह मैं ऊपर कह ही चुका हूँ कि बहिष्कार का अनुभव उन्हें किस प्रकार हो रहा था। किन्तु तिलक ने घर या बाहर के किसी मनुष्य के दबाव में आकर प्रायश्चित नहीं किया। घर में उन से टकराने वाला कोई था ही नहीं। तिलक की पत्नी अशिक्षित थी, अबोध थी, इस झगड़े में पड़ने के अयोग्य थी। वह तिलक को, तिलक के हठ को, हठ में निहित अटूट बल को जानती थी। घर के बाहर उनके किसी भी मित्र का कार्य उनके प्रायश्चित न करने से रुक नहीं रहा था। और यदि किसी का कार्य रुकता भी तो तिलक उनमें से न थे जो व्यक्ति गत मान हानि सहन करने को तैयार होते। तिलक के सगे संबंधियों में उनके बड़े बूढ़े काका थे। वे जानते थे कि तिलक का मान कितना बढ़-चढ़ गया है इस लिये वे स्वयं अपने को इस योग्य न समझते थे कि उन्हें सलाह दें। हाँ यदि तिलक किसी को सचमुच अपना सगा-संबंधी समझते थे तो वह थी जनता। यदि तिलक किसी का आदर करते थे तो वह था जनमत। जब जब तिलक के ऊपर कोई आफत आई, जब जब तिलक को सामंतशाही ने घेरा,

तिलक दौड़ कर जनता के पास गये ठीक उसी तरहसे जैसे एक बालक सौतेली मां के सताये जाने पर पिता के पास दौड़ा आता है। जैसे कभी सौतेली मा ज़ोर पकड़ लेती है तो कभी पिता उसी तरह से कभी सामंतशाही ज़ोर पकड़ती थी तो कभी जनमत। तिलक जानते थे कि अन्त में जनमत रूपी पिता की ही विजय होगी। प्रायश्चित वह अपनी आत्म-तुष्टि के लिये कर रहे थे न कि औरों के लिये। तिलक यह मानते थे कि प्रायश्चित करना कारावास के दंड सहने के समान है। वह काशी गये। वहाँ उन्होंने स्वेच्छापूर्वक प्रायश्चित किया। आत्मतुष्टि की।

तिलक ने यह प्राश्चित क्यों किया? उत्तर सीधा है। वह स्वधर्म का अपमान न करना चाहते थे। जहाँ तक संभव था वह व्यवहार में समाज का साथ देना चाहते थे। वह धर्म की प्रतिष्ठा को बनाये रखना चाहते थे। इस ध्येय को पूरा करते हुए वह किसी भी पंडित या वेदांती से लड़ने को तैयार थे। इसी के कारण यदि रानडे के आचरण में सरलता थी तो तिलक की बातों में वक्रता। यदि रानडे किसी से लड़ना न चाहते थे तो तिलक सैकड़ों प्रतिपक्षियों पर विजय पाने की महत्वाकांक्षा रखते थे। तिलक की यह बलवती महत्वाकांक्षा सदा उन के साथ रही—क्या तो विलायत में और क्या मांडलेय की जेल में।

रमाबाई का शारदा सदन

यह रमाबाई कौन थी? कहाँ से आई? सन् १८७८ में बम्बई में घर घर यह समाचार फैल गया कि रमाबाई नामक एक बीस वर्ष की कुआँरी लड़की कलकत्ते में आई हुई है और उसकी योग्यता से, उसकी विद्वत्ता से और उस के अपार ज्ञान से सभी विद्वान विस्मय में पड़ गये हैं।

रमाबाई की जन्म कथा एक दुखियारी की कहानी थी। वह अप्रैल १८५८ में अनन्त शास्त्री के घर उत्पन्न हुई थी। उस समय शास्त्री जी के घर में दरिद्रता पैर फैलाये पड़ी थी। भूखों मरने की नौबत आ गई। भूख से या दुख से शास्त्री जी चल बसे। कुछ समय बाद रमाबाई की माँ भी अपने पति के पास चली गई। जिस का डर था वही हुआ। बच्चों को घर घर भीख मांगनी पड़ी।

भाई बहन महाराष्ट्र छोड़ कर कलकत्ते आगये। यहाँ भगवान ने भाई को भी अपने पास बुला लिया। अब शेष रह गई थी केवल रमाबाई। इसे संस्कृत के हजारों श्लोक कंठस्थ थे। इस का साथ देने के लिये न तो मां रही, न पिता, न भाई। यदि कोई साथ के लिये रह गई थी तो वह थी संस्कृत और इस ने इसका साथ दिया। आखिरी दिन तक इसका साथ दिया। इसी संस्कृत के कारण उसे ख्याति मिली, आदर मिला। विदुषी होने के साथ साथ यह आशु कवियत्री भी थी। फिर क्या था, सोने में सुहागा लगा।

कलकत्ते से रमाबाई आसाम गई। वहाँ सिलहट के वकील मेधावी से इनका विवाह हुआ। पर दुर्दैव ने अभी उन का पीछा नहीं छोड़ा था। विवाह के १६ महीने बाद मेधावी भी चल बसे। रमाबाई के गर्भ था। एक पुत्री हुई—मनोरमा। इस ने आगे चल कर ईसाई धर्म ग्रहण किया।

बंगाल को छोड़ कर रमाबाई बम्बई आई। और कुछ दिन बम्बई में रह कर यह सन् १८८२ में पूना आ पहुँची। अब आपकी समझ में आ गया होगा इन का तिलक से संबन्ध। क्यों कि उस समय जिसने पूना में कदम रक्खा उसे तिलक के सम्पर्क में आना ही पड़ता था।

पूना में रमाबाई के भाषण हुए—एक दो नहीं सैकड़ों। और सैकड़ों ही उन के भक्त हो गये। रानडे आदि सुधारक उन्हें स्त्री शिक्षा के लिये एक आदर्श समझने लगे। कुछ ही दिनों में पूना में उनके पैर जम गये। उसी वर्ष सन् १८८२ में उन्होंने पूना में 'आर्य महिला समाज' की स्थापना की।

पूना आने के बाद ही रमाबाई ने धीरे धीरे अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ कर दिया। जैसे कैकेई को मंथरा मिल गई उसी प्रकार रमाबाई को मिस हरफ़र्ड मिल गई। इनका काम था चोरी-छिपे बाइबल का प्रचार करना, धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा ज़हर उगलना। मैं बाइबल के प्रचार का विरोध नहीं करता पर यह जो तरीका अपनाया गया था उस का विरोधी हूँ। कोई भी काम, चाहे वह कितना ही बड़ा हो, चोरों की तरह

किया जाय मैं उसे निन्दनीय समझता हूँ।

मिस हरफर्ड और पूना के अन्य मिशनरियों ने रमाबाई की कमज़ोरी ढूँढ़ी—उन की छिपी हुई महत्त्वाकांक्षा को कुरेदा, उन्हें विलायत जाने को उकसाया। और शिकार फँस गया।

वह विलायत गई। वहाँ उन्होंने अंग्रेज़ों को देखा, अंग्रेज़ी को देखा। दोनों को पढ़ा। खूब पढ़ा। वह वहाँ एक कालेज में संस्कृत की अध्यापिका बना दी गई। क्यों नहीं वह ईसाई बन चुकी थीं। ११ मार्च १८८९ को बम्बई में उन्होंने 'शारदा सदन' नाम की संस्था खोली। शारदा-सदन से सभी लोग संशकित थे क्या तो सुधारक और क्या तिलक।

७ जुलाई के केसरी में कृष्णाबाई ने शारदा सदन के बारे में कुछ लिखा, काफ़ी लिखा। यह रमाबाई की फुफेरी बहन थी। वह शारदा सदन में रही थी। सदन में क्या होता था क्या नहीं होता था—सब कुछ देखा था। आप देखी वह अब दुनिया को दिखा रही थी। उन्होंने लिखा—

"बालकों की ओर से अनुरोध करने पर भी उन्हें तुलसी पूजा नहीं करने दी जाती। क्यों कि इस के लिये व्यर्थ समय नष्ट होने, देर हो जाने अथवा दूसरी लड़कियों को बात चीत में लगाने आदि के बहाने बतला दिये जाते हैं।" केसरी के लिये यह विभीषण थी जो सदन का सब हाल बताती रहती थी।

जब किसी चीज़ को खत्म होना होता है तो वैसा ही वातावरण भी बन जाता है। हिन्दू-मुसलमानों के दंगे आरम्भ

हो गये। शारदा सदन बन्द हो गया। लड़कियों को अपने अपने घर भेज दिया गया। इस तरह बिना किसी श्रम के यह विवाद शान्त हो गया।

हिन्दू-मुसलमानों के दंगे

आरंभिक हिन्दू मुसलमानों के झगड़े का कारण था लोगों की संकीर्णता, विचारों का उथलापन और शिक्षा की कमी। बाद में इन झगड़ों से हमारी विदेशी सरकार को प्रेरणा मिली। उसने सोचा कि जब तक यह झगड़े बने रहेंगे तब तक उनका राज्य भी बना रहेगा। अतएव इन झगड़ों को सरकार द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में बढ़ावा मिला। राजनैतिक पुट मिला।

सन् १८९३ के दंगों की उत्पत्ति प्रभास पट्टन में हुई। यह जूनागढ़ राज्य में है। यहाँ के नवाब मुसलमान थे। पर नवाबों और राजाओं को क्या लेना देना इन दंगों से। उन्हें तो अपने खजानों से वास्ता है। एक बार उनके खजाने में रुपये किसी तरह आ भर जाय। फिर तो वह मुर्दे हो जाते हैं। जब तक वह किसान और मज़दूर के हाथ में रहते हैं तभी तक उनके लिये छीन झपट होती है। महल में आते ही उन पर ताले पड़ जाते हैं, पहरा बैठ जाता है। कुछ तो जीतेजी ज़मीन में दफ़न भी कर दिये जाते हैं। किसान और मज़दूर की चीज यदि महल में आ कर बौखला जाय तो अश्चर्य क्या ? फलतः इन रुपयों का स्पर्श करते ही राजे-महाराजे राजमद में डूब जाते हैं। बरसों याद

करेंगे हम उन सरदार पटेल को जिन्होंने इस राज मद का बहिष्कार किया। अपने जीवन में, अपने सामने, अपने आप इसका अन्त किया। और खूबी यह थी कि राजे-महाराजों ने चूँ तक न की। और करते भी कैसे। उनके मद को दूर करने वाला जो आगया था।

हां तो प्रभास पट्टन में पाशविकता नंगी हो कर नाचने लगी। हिन्दुओं की हत्या हुई। मन्दिरों को भ्रष्ट किया गया। मूर्तियाँ तोड़ दी गईं। साधु संतों को तेल डाल कर जला दिया गया। सभ्यता रो पड़ी। धर्म कांप उठा। मानवता की सिसकियाँ सुनाई पड़ने लगीं। और इस दंगे-फ़साद की जड़ क्या थी ताजिये का जुलूस। सुन कर हँसी आती है। सुन कर रोना आता है। इन किस्सों को सुन कर मैं कभी कभी सोचता हूँ कि क्या मनुष्य की परिभाषा बदलनी पड़ेगी। या इसे कोई और दूसरी संज्ञा देनी पड़ेगी। क्या हमारा बौद्धिक स्तर इतने नीचे गिर गया है? क्या पाप का क्षेत्र इतना विस्तृत हो चला है?? क्या सहिष्णुता कभी क्रियाशील नहीं बनेगी???

लोगों ने दंगों की जाँच के लिये आवाज़ उठाई। अभी जाँच शुरू भी न हो पाई थी कि ११ अगस्त १८९३ को बम्बई में यही झगड़े फिर शुरू हो गये। दंगा करने में देर क्या होती है। गरीबों को भड़काना भर होता है। किसी ने बम्बई की जुम्मा मसजिद के मुसलमानों को भड़का दिया। वह झुन्ड के झुन्ड निकल पड़े। हनुमान लेन के शिवालय को घेर लिया। लाशें

गिरीं। काफी खून गिरा।

दूसरे दिन हिन्दू उठे। फिर वही सब बातें हुईं। वैसा ही खून गिरा। सच मानिये कुछ भी तो अन्तर न था इन दोनों के खून में। अगर यह सचमुच अलग अलग होते तो क्या दोनों का खून एक सा होता। कल कोई मरा, आज कोई मरा। पर मैं पूछता हूँ इस से धर्म का क्या घटा-बढ़ा। इससे मारने वालों को क्या मिला। इसी को तो बुद्धि-भ्रष्ट कहते हैं न!

जब आदमी की बुद्धि-भ्रष्ट हो जाती है तो उसमें रह ही क्या जाता है—पशु और उसका बल। ये जानवर भिड़ गये। अपनी अपनी ताक़त दिखाने लगे। दो दिन तक यह खून-खराबी रही। परिस्थिति हाथ के बाहर निकल गई। अन्त में कुलाबा से मंगवा कर तोपें दागनी पड़ीं। बाहर से तीन हज़ार फौजी सिपाहियों की सहायता ली गई। साठ-सत्तर मनुष्यों का खून हुआ। तीन चार सौ घायल हुए। हज़ारों लोग बम्बई छोड़ भाग खड़े हुए। बारह सौ मनुष्य पकड़े गये। महारानी विक्टोरिया ने वायसराय के पास सहानुभूति का तार भेजा। सरकार भी खूब थी। पहले दंगों के लिये किसी एक जाति को उकसाती थी और फिर तोपों को दगवाती थी। तिलक लिखते हैं:—

"मुसलमान बहक गये हैं। और यदि वे बहक गये हैं तो इसका एक मात्र कारण सरकार की ओर से उनको उत्तेजित किया जाना ही है।" (१५-८-१८९३ के 'केसरी' से)

पूना की सभा हुई। इस में तिलक देर तक बोले। उन्होंने

गोरक्षा विषयक आंदोलन पर किये गये आक्षेपों का खंडन किया। उन्होंने कहा—"किसी एक भी मुसलमान का जी न दुखे इसलिये दस हज़ार हिन्दुओं का जी दुखाया जाता है।"

उधर हीराबाग में काज़ी शहाबुद्दीन के सभापतित्व में सभा हुई। एक मौलवी साहब ने जी खोल कर हिन्दुओं पर गाली बरसायीं। उन्होंने कहा — "ये लोग अपने समाचार पत्रों में हमें गालियाँ देते हैं और नीचता पूर्वक हमारा उल्लेख करते हैं। हमारे अकबर सरीखे बादशाहों के उपकार को ये भूल जाते हैं। ये लोग निरन्तर पराधीन ही रहने योग्य हैं।"

काज़ी साहब यह नहीं समझ सके कि यदि हिन्दू पराधीन रहे तो मुसलमानों को भी पराधीन रहना पड़ेगा। उन्हें क्या मालूम था कि वह जो गाली निकाल रहे हैं वह उन पर भी उतनी ही लगती हैं जितनी हिन्दुओं पर। यह तो वैसे ही हुआ कि दो सगे भाई आपस में लड़ें और लड़ाई के तैश में एक दूसरे के बाप को बुरा भला कहे। है न मूर्खता? हिन्दुओं ने अपनी सभा करके मुसलमानों को गाली दे दी और मुसलमानों ने अपनी सभा करके हिन्दुओं को गाली दे दी। क्या मिला? इस गाली-गलौज के तरीके से न तो पहले कुछ मिला था और

अब मिलेगा। क्यों न यह तरीका बदल दिया जाय? क्यों न हिंदू अपनी सभा में हिन्दुओं की ही गलती गिनायें और मुसलमानों की प्रशंसा करें?? क्यों न मुसलमान अपनी सभा में

मुसलमानों की ही गलती गिनायें और हिन्दुओं की प्रशंसा करें ??? ज़रा गांधी के दिखाये हुए रास्ते पर चलकर तो देखिये। ज़रा अहिंसा के ढग पर सोच कर तो देखिये। विचार तो आपके ही रहेंगे, ज़रा इन्हें बदल कर तो देखिये। इस नये रास्ते पर चलने पर न तो चिल्लाते चिल्लाते आपका गला थकेगा, न आपको किसी के पीछे दौड़ना पड़ेगा, और न लाठी और छुरा चलाना पड़ेगा। अब तो भारतवर्ष स्वतन्त्र है। अपनी सरकार है। अपनी बात है। हम और आप, हल चलाने वाला और मोटर पर चलने वाला, पूजा करने वाला और नमाज़ पढ़ने वाला, पालिश से बूट चमकाने वाला और क्रीम से मुँह चमकाने वाला—सभी तो एक हैं। भारत एक है। भारतवासी एक हैं। और यदि इतना कहने पर भी आपके दिल में चोर छिपा है, आप इसे अपना वतन नहीं समझते, आपको कहीं और की याद आती है—तो आपको कोई हक नहीं है कि यहाँ एक पल भी रहें। अपने विचारों का बोझ उठा कर चले जाइये यहाँ से। वहाँ जाइये जहाँ आप के सींग समायें। हमें गद्दारों की ज़रूरत नहीं। क्षमा कीजियेगा यह सब मैं इसलिए कह गया कि यह रोज़ रोज़ के हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत देखे, बहुत सुने। अब हम यह झगड़े यहाँ नहीं होने देंगे। किसी कीमत पर न होने देंगे। चाहे आप इसे इस कान सुनें या उस कान। इन दंगों से, इन फिज़ूल के झगड़ों से तिलक की आत्मा को दुख होता है। क्या लाभ उनकी जीवनी लिखने या पढ़ने से यदि आप उन की

आत्मा को दुखाते रहें।

हाँ तो काज़ी शहाबुद्दीन का भाषण सुनने के लिये तिलक स्वयं हीराबाग में आये थे। उन्होंने मुसलमानों की गाली-गलौज सुनी और शान्तिपूर्वक सुनी। और हृदय से सुनी।

अक्टूबर १८९३ में मुकदमे का निर्णय सुनाया गया। कुल १४५४ व्यक्ति पकड़े गये थे। इनमें ६६९ हिन्दू थे और ७८५ मुसलमान। इनमें से २५ हिन्दू और २९ मुसलमान निरपराध होने के कारण छोड़ दिए गये। बाकी अपराधियों को समान रूप से दंड दिया गया। पर लोगों ने इसे निष्पक्ष नहीं बताया। कारण बम्बई में मुसलमानों ने तीन बार दंगा किया था और तीनों ही बार उसका आरम्भ जुम्मा मसजिद से ही हुआ। अतएव केसरी ने ज़ोरों से इस बात को कहा—

"यदि अतिरिक्त पुलिस रक्खी जाती हो तो उस की नियुक्ति जुम्मा मसजिद पर ही की जानी चाहिये और उस का व्यय भी मसजिद की आय में से ही लिया जाना चाहिये।"

येवला में इस बात पर झगड़ा हो रहा था कि बालाजी की सवारी यथानियम पटेल की मसजिद के सामने से गाजे-बाजे के साथ निकाली जाय या नहीं। उस दिन के लिये ज़िलाधीश ने यह आज्ञा कर रक्खी थी कि उस मसजिद में मुसलमान एकत्रित नहीं होंगे और हिन्दू मसजिद के पन्द्रह कदम तक बाजे न बजावें।' पर मुसलमानों ने इस आज्ञा के विरुद्ध अपील की।

त्रयोदशी की रात को मामला बिगड़ गया। बुधवार रहते

हुए भी उस दिन मुसलमानों ने कुरान पढ़ने के लिए सवेरे सवेरे ही मसजिद के द्वार खोल दिये। कुछ भजन मंडलियाँ दारूवाले पुल के पास की मसजिद के सामने से भजन-कीर्तन करती हुई जा रहीं थीं। फिर क्या था, मुसलमान लाठियाँ लिये हुए मसजिद से निकल पड़े। लाठियाँ बरस पड़ीं। हारमोनियम कहीं गिरा, मंजीरे कहीं। किसी का सिर फूटा, किसी की कमर टूटी। सारा जुलूस बिखर गया। नातू साहब को लाठी से बुरी तरह पीटा गया। बात की बात में यह खबर गाँव भर में फैल गई। अब हिन्दुओं में जोश आने की बारी थी। उन्होंने मसजिद में घुस कर मुसलमानों को खूब पीटा। पुलिस ने मसजिद को घेर लिया। पर तब तक हिन्दू वहाँ से भाग गये थे। तमाशा देखने वाले वहाँ ज़रूर थे। वह भी थोड़े बहुत न थे। ६–७ हज़ार थे। पुलिस कप्तान ने अपना घोड़ा भीड़ में दौड़ा दिया। साहब बहादुर के हाथ से कुछ लोगों के चोट लगी। कुछ लोगों के हाथ से साहब बहादुर के चोट लगी।

सब से आश्चर्य की यह बात हुई कि मसजिद में जमा होने वाले हिन्दुओं में या गणपति की प्रतिमा फोड़ देने वाले मुसलमानों में से एक भी व्यक्ति नहीं पकड़ा गया। पकड़े जाने वाले लोगों में नातू साहब भी थे। बेचारे पहले मुसलमानों के हाथ पिटे, और अब पुलिस के हाथ लगे।

निरपराधियों पर मुकदमा चला। सरकार की ओर से बैरिस्टर लॉडस और आरोपियों की ओर से चिमनलाल सेटलवा

थे। नातू साहब पर भी अभियोग चला और वह निर्दोष सिद्ध हुए।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है 'ऐसे दंगों के बाद जैसा कि होता है हिन्दू और मुसलमानों की अलग अलग सभा हुई। हिन्दुओं ने रे मार्केट में की और मुसलमानों ने जुम्मा मसजिद में। दो हज़ार मुसलमान एकत्रित हुए। मुसलमानों ने हिन्दुओं के विरुद्ध जो कुछ कहना चाहिये था उस से कुछ ज्यादा ही कहा। सभा में पुलिस के प्रति कृतज्ञता प्रकट की गई। इसी को लक्ष्य करके केसरी ने लिखा—

"आज पुलिस को धन्यवाद देने के लिये मुसलमानों की सभा हुई किन्तु कुछ दिनों में उन्हें पुलिस को गालियाँ देने के लिये सभा करनी पड़ेगी।"

आरंभ में मुसलमान तिलक को अपना कट्टर शत्रु समझते रहे। पर कितने दिन। अन्त में अविश्वास के बादल फट गये और अली-बन्धु जैसे महान नेताओं ने संसार के सामने प्रकट कर दिया कि तिलक ही उन के सच्चे गुरु हैं, मुसलमानों के सच्चे हितैषी हैं।

बापट कमीशन

बापट कमीशन के बहाने तिलक के दो गुण चमक उठे—

(१) मित्र के लिये कष्ट सहना।

(२) उन की कुशाग्र बुद्धि

इस कार्य में तिलक ८-१० महीने फँसे रहे वासुदेव सदा

शिव बापट उन के मित्र थे। यह एक गरीब ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। मजबूरी में बी० ए० की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। बड़ौदा में नौकरी कर ली। नौकरी भी थी चालीस रुपये महीने की। पाँच वर्ष के अन्दर यह १२५) रुपये पर बड़े बाबू बन गये। सात वर्ष बाद सन् १८८६ में सहायक कमिश्नर बना दिये गये। सन् १८९४ तक उन का वेतन ६७५) रुपये तक बढ़ गया था।

तिलक और बापट सहपाठी न थे, पर इन दोनों का परिचय कालेज जीवन से हो गया था। दोनों रत्नगिरि के रहने वाले थे। जब तिलक ने जिनिंग कम्पनी खोलने का विचार किया तब बापट ने बड़ौदा के एक साहूकार से उन्हें पाँच हज़ार रुपया कर्ज़ दिलाया था।

बड़ौदा के महाराज सयाजीराव की स्वतंत्र वृत्ति के कारण ब्रिटिश सरकार उनसे रुष्ट थी। क्योंकि इलियट साहब महाराज के स्वतंत्र और स्वाभिमानी विचारों का आदर करते थे इस कारण रेज़ीडैन्सी उनसे भी नाराज़ रहती थी। अभाग्यवश सन् १८९४ में महाराजा और इलियट दोनों विलायत चले गये। बापट के शत्रु बाट जोह रहे थे। उन्होंने बापट पर एक साथ आक्रमण किया और बापट कमीशन बनना पड़ा। इसी बीच महाराजा और उन के दीवान के पास कुछ अर्ज़ियाँ आती रहीं। रेज़ीडैन्ट ने अर्ज़ियाँ देने वालों को भड़काया। वास्तव में ब्रिटिश सरकार को दरबार की अन्तर्व्यवस्था में हस्तक्षेप

करने का कोई अधिकार न था। पर कौन कहे! ब्रिटिश सरकार की नीति देशी राज्यों के प्रति अराजकता, अनैतिकता और अधाधुन्धी का जीता जागता उदाहरण है। यहाँ के वायसरायों ने देशी राज्यों को मन बहलाव की एक चीज़ समझ लिया था जिन्हें जब चाहते प्यार कर लेते और जब चाहते गरदन मार देते। उनका न अपना कोई अस्तित्व था, न अपनी ज़बान थी। उन की स्वतन्त्रता, उनकी स्वच्छन्दता नष्ट हो चुकी थी या यों कहिये नष्ट कर दी गई थी। वह हिरन जो हवा में कुलाँचें मारता था आज परवश था। वह राजे जो अपने राज्य में पूजे जाते थे आज दूसरे की पूजा में लगे थे।

सन् १८६४ में जब इलियट और महाराजा फिर विलायत गये तो बापट पर रिश्वत लेने का आरोप लगाया गया। मेकनकी को स्पेशल मैजिस्ट्रेट का अधिकार दरबार की ओर से दे दिया गया। उन्होंने अपने पद से अधाधुंधी शुरू करदी। बापट के पुराने पुराने मित्र उनका साथ छोड़ गये। दुर्दिन में साथ देने के लिए कलेजा चाहिए। और तिलक के पास यह कलेजा था। उन्होंने बापट को सहायता देने का वचन दिया। १५ जून का उन्होंने अपने मित्र वासुदेव राव जोशी को बड़ौदा भेजा। जोशी जी को यह समझते देर न लगी कि बापट का रहना खतरे से खाली नहीं है। अतएव उन्होंने बापट को बड़ौदा छोड़ने को बाध्य किया। बापट के पीछे खुफिया पुलिस लगी थी।

१८ जून को बम्बई जाने वाली गाड़ी पर बापट और जोशी

दोनों स्टेशन पहुँचे। जोशी का सामान उनके साथ था। बापट खाली हाथ उनको पहुँचाने आये थे। दस कदम पर खड़ी हुई खुफ़िया पुलिस बापट को देख रही थी। गाड़ी चली। बापट ने जोशी से हाथ मिलाया। पर यह क्या ? बापट चलती गाड़ी में जोशी के साथ बैठ गये। पुलिस देखती रही और वह बैठ गये। पुलिस देखती रही और वह गाड़ी में चल भी दिये। पुलिस देखती रही और गाड़ी चल दी। पुलिस जब तक हाथ पैर फेंके तब तक गाड़ी प्लेटफार्म छोड़ चुकी थी। तार गये। टेलीफोन खटके। पर अब बापट बड़ौदा राज्य की हद से निकलकर रेलवे की हद में, अंग्रेज़ सरकार की हद में पहुँच गये थे। वहाँ के मैजिस्ट्रेट का वारंट न होने से बापट की रोक थाम कोई न कर सका। इस तरह जोशी जी के साथ पूना आ जाने पर वे लगभग डेढ़ महीने तक फ़रार रहे।

३० जनवरी १८९४ को बापट को मुअत्तिल कर दिया गया। लोग उनके पीछे लगे रहे। अन्त में १३ अगस्त १८९४ को बापट कमीशन की नियुक्ति हुई। कमीशन के नियुक्त होते ही बापट बड़ौदा जाकर कमीशन के सामने खड़े हो गये। फ़रियादी की ओर से पहले बैरिस्टर फीरोज़शाह मेहता थे। फिर मि० ब्रसन खड़े हुए। और इनकी सहायता कर रहे थे बम्बई के प्रसिद्ध भाई शंकर वकील। पर वास्तव में वकीलों का असली कार्य और उनके मुंशी का सभी कार्य तिलक ने किया।

सब उगते हुए सूर्य को ही पूजते हैं। यह लोकोक्ति आज

बापट के ऊपर पूरी तरह से चरितार्थ हो रही थी। कल तक उनके पास सत्ता थी, वे पूजे जाते थे। आज वे सत्ता हीन थे इस लिए उन्हें इस मामले में दफ्तर खोलने के लिये कोई एक कोठरी देने को भी तैयार न था। हार कर स्टेशन के पास धर्मशाला में तिलक, बापट और जोशी को अपनी कचहरी जमानी पड़ी। कमीशन का कार्य चार महीने चला।

बापट पर १२ आरोप थे। निर्णय हुआ। एक आरोप को छोड़ कर बाकी सब में वह अपराधी सिद्ध हुए। ६ महीने की कैद और दस हज़ार रुपये जुर्माने की सज़ा हुई। पर कमीशन के हाथ में सिफ़ारिश करना भर था, सज़ा देना नहीं। अन्तिम निर्णय महाराजा के हाथ में था।

१६ जनवरी १८६५ को महाराजा विलायत से लौटे। महाराजा ने राय बहादुर पंडित और दलाल इन दो कानून के दक्षों से इस मामले पर सम्मति मांगी। इन्होंने कुछ बातों को छोड़कर शेष सब विषय में बापट को निर्दोष बताया। महाराजा ने फिर बड़ौदा हाईकोर्ट के एक पारसी जज और स्वयं दीवान साहब की सम्मति ली। चारों की सम्मति थी कि बापट आधे से अधिक विषय में निर्दोष हैं। उनमें से तीन की सम्मति थी कि बापट सब मामलों में निर्दोष हैं। महाराजा का निर्णय हुआ। बापट निरपराध सिद्ध हुए। फिर भी बापट को नौकरी पर नहीं रक्खा गया लोकोक्ति भी तो है कि ज़मीन पर गिरा हुआ गोबर थोड़ी बहुत धूल लेकर ही उठता है। एक दो बातों

पर महाराज को बापट की ओर से सन्देह हो गया। पर यह सन्देह बापट की नौकरी खत्म करने में ही सफल रहा, महाराजा का बापट के प्रति प्रेम खत्म करने में नहीं। महाराज ने बापट को १२५) की पेंशन बाँध दी। इस निर्णय के बाद बापट पूना में ही आकर रहने लगे। उनकी और तिलक की मैत्री बराबर बनी रही, बढ़ती रही। इस मैत्री में सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह दो विरोधी स्वभाव वालों में थी। तिलक और बापट के स्वभाव में ज़मीन आसमान का अन्तर था।

महाराज सयाजीराव गायकवाड़ तिलक को पहले से जानते थे। इस किस्से से यह परिचय और बढ़ गया, घनिष्ठ हो गया।

कांग्रेस

तिलक बराबर इस बात पर ज़ोर देते रहे कि जब तक स्कूल में हो किसी और उद्योग धंधे में हाथ न लगाओ। यह बात उन्होंने खुद ही चरितार्थ कर के दिखा दी। सन् १८८८ तक राष्ट्रीय महासभा के चार अधिवेशन हो जाने पर भी वे किसी में सम्मिलित न हुए। किन्तु स्कूल छोड़ते ही वह इस ओर बढ़े। १७ मार्च १८८९ को पूना में एक विराट सभा हुई जिसमें राष्ट्रीय महासभा के उस वर्ष के अधिवेशन पर विचार किया गया। बम्बई की राष्ट्रीय महासभा के लिए तिलक और नाम जोशी ने धन संग्रह करना आरम्भ कर दिया। वे महाराष्ट्र भर के ज़िले ज़िले में घूमे। दस हज़ार रुपये एकत्रित किये।

दिसम्बर १८८९ में सर विलियम वेडरबर्न की अध्यक्षता

में बम्बई में एक बड़ा अधिवेशन हुआ। सन् १८८६ की सभा में १८८६ ही प्रतिनिधि आये थे। राष्ट्रीय महासभा के इस महापर्व पर केसरी सप्ताह भर के लिए बम्बई ले जाया गया। दैनिक संस्करण निकला। महासभा की हर छोटी-बड़ी खबर निकली। इस सभा में चार्ल्स ब्रैडला भी आये थे।

तीसरी प्रान्तिक परिषद मई १८९० में फिर पूना में हुई। काज़ी शहाबुद्दीन उसके अध्यक्ष थे। इस सभा में तिलक सरकारी आबकारी विभाग के ध्येय के विरुद्ध बोले। इसी परिषद में अगले वर्ष के अधिवेशन के लिये तिलक, नामजोशी और गोखले संयुक्त मंत्री बनाये गये।

अगले वर्ष की प्रान्तीय परिषद फिर पूना में हुई। अध्यक्ष थे प्रसिद्ध वकील गोविन्दराव लिमये। इस सभा में तिलक ने सम्मति बिल पर प्रस्ताव उपस्थित किया। फिर तिलक रामभाऊ साने के साथ अगले वर्ष के लिये संयुक्त मंत्री बनाये गये।

पांचवीं प्रान्तिक सभा के सभापति फीरोज़शाह मेहता थे। इस की बैठक भी पूना में हुई। यह अधिवेशन बहुत ज़ोर-दार रहा। इस बार फिर वाछा, सेटलवाड, धरमसी और तिलक प्रान्तीय परिषद के मंत्री चुने गये।

इन प्रान्तिक परिषदों का विवरण मैंने इस लिये दिया कि इन में तिलक के बराबर मंत्री चुने जाने पर यह स्पष्ट हो गया होगा कि तिलक १८९० में ही प्रान्तीय परिषदों के अभिन्न अंग बन चुके थे। वह महाराष्ट्र के हो गये थे औ

महाराष्ट्र उनका हो गया था। प्रान्त के परिषद में, प्रान्त की राजनीति में यहाँ तक कि प्रान्त की धड़कन में, उन के ही हृदय का स्पंदन सुन पड़ता था।

सन् १८९५ में तिलक पूना की म्यूनिसपलटी में चुन लिये गये। इतना ही नहीं उसी वर्ष वह बम्बई की धारा सभा के भी सदस्य चुने गये। इन्होंने और नामजोशी ने अपना-अपना कार्य क्षेत्र बाँट सा रक्खा था। अतएव म्यूनिसपलटी आदि की ओर अब तक तिलक नहीं झुके थे। यह नामजोशी के क्षेत्र में था। स्थानिक स्वराज्य और औद्योगिक आंदोलन तिलक के पास थे। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में काम करते रहे। सन् १८९६ में नामजोशी का देहावसान हो गया। तिलक को बहुत बड़ा धक्का लगा। कितने ही दिनों तक वह एक सूनापन, एक अकेलापन सा अनुभव करते रहे।

धारा सभा

पूना की म्यूनिसपलटी की अपेक्षा बम्बई की धारा सभा के साथ तिलक का सम्बन्ध कुछ अधिक रहा। उस समय धारा सभा में अधिकतर सदस्य बेमेल, बेजोड़ और बेबुनियाद थे। वे इतना ही जानते थे कि वे धारा सभा के सदस्य हैं। क्यों हैं? किस लिये है ? किस के लिये हैं? इन प्रश्नों को सोचने की न तो उनमें क्षमता थी, न सामर्थ्य। कुछ सदस्य थे जो अपना लिखा हुआ भाषण रुक रुक कर पढ़ देते थे— कुछ गलत, कुछ सही। कुछ सदस्य थे जिन्होंने धारा सभा में कभी अपने ओठ

ही न हिलाये थे—कुछ आंख बन्द कर सोते रहते थे, कुछ आंख खोल कर। कुछ सदस्य थे जो अपना रंग बिरंगे पोशाक दिखाने के लिये ही विधान सभा में आते थे—राजा-महाराजा जो ठहरे। यह तो हुई सदस्यों की दशा। धारा सभा की दशा भी इन सदस्यों से मिलती जुलती थी। धारा सभा का मुख्य ध्येय था कुछ काम न करना। इसी लिए इन सवा दो वर्षों म कौंसिल आठ दिन बैठी। और कुल मिला कर ३६ घण्टे से कम काम किया।

धारा सभा में भी तिलक चुप न बैठ सके। वहाँ वह इस बात के ढूंढने में लग गये कि २५ वर्षों में सरकार को आय से जो रुपया मिला है इसका कौनसा भाग प्रान्त की उन्नति में लगाया गया है। उनकी इन छान बीन से, उनके इन प्रश्नों से सरकार भयभीत हो गई। वह कौंसिल के सदस्य थे, हटाये भी न जा सकते थे। अन्य सदस्यों की तरह सरकार की प्रशंसा करना या सरकार को धन्यवाद देना वे जानते ही न थे।

परन्तु धारा सभा के काम की अपेक्षा तिलक की प्रकृति बाहरी आंदोलनों में काफ़ी थी। इन आंदोलन को तीव्र बनाने के लिये ही तिलक धारा सभा में गये थे।

राष्ट्रीयता का उत्सवों द्वारा पुनुरुत्थान

चिरौल साहब अपने अप्रसिद्ध ग्रंथ 'भारत की अशांति' में लिखते हैं:—"तिलक ने अपने राजनैतिक आंदोलन के साथ धर्म की सहानुभूति आवश्यक समझ कर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारत के परम प्रिय देव गणपति को अपने समस्त आंदोलनों का आदिदेव बनाने की युक्ति निकाली है।"

तिलक जानते थे कि अँग्रेजों की सारी नीतिमत्ता और बुद्धिमत्ता धर्म पर आक्रमण करने में डरती है। आक्रमण करना तो दूर रहा वह धर्म में हाथ डालने में भी घबराती है। मुसलमानों ने इस का लाभ उठाया था। वह जब तब 'धर्म संकट में है' की पुकार मचा देते थे। अतएव उन्होंने सोचा कि यदि वह हिन्दू धर्म के उत्सवों को सार्वजनिक स्वरूप दें तो जनता तो उस ओर खिंचेगी ही, वह सब को एक कर के राष्ट्रीय बीजों को बिखेर सकते हैं। भावों को रूप मिला। गणपति उत्सव में सार्वजनिक विसर्जन और भजनमंडली की एक नई कल्पना हुई। एक नई रचना हुई।

सन् १८६४ में गणपति-विसर्जन का वर्णन इस प्रकार दिया है:—"जिधर दृष्टि डालिये उधर ही गणपति के दर्शन होते हैं। 'चारों ओर गणपति बापा मोरया, पुढच्या वर्षी लवकर या' (हे मोरया गणेश बाबा आप फिर से अगले वर्ष शीघ्र आइये) की ध्वनि सुनाई पड़ती है जो आकाश मंडल को गुंजा रही है।"

इस राष्ट्रीय उत्सव को आरंभ करके तिलक ने जितने व्यक्तियों से संबंध-विच्छेद किया, उससे कई हज़ार गुने लोगों को उन्होंने संयुक्त भी कर दिया। गणपति-उत्सव केवल पूना की परिधि में ही न रह पाया। कुछ ही समय में यह बम्बई, कोल्हापुर, सितारा, अहमदनगर और धूलिया आदि स्थानों में भी पूने की तरह ही मनाया जाने लगा।

गणपति उत्सव के साथ साथ 'शिवाजी उत्सव' आरंभ करने का श्रेय भी तिलक को है। रायगढ़ के किले में शिवाजी की समाधि से उन्हें इस की प्रेरणा मिली।

२० अप्रैल १८६४ को बम्बई के प्रसिद्ध लेखक करकेरिया ने प्रतापगढ़ के किले पर रायल ऐशियाटिक सोसायटी के सामने एक तर्क और विद्वत्ता-पूर्ण निबध पढ़ा। उन्होंने अनेक आधार देकर यह सिद्ध किया कि—

"अफ़जल खाँ ने बीजापुर के दरबार में यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं शिवाजी को जीवित या मृतावस्था में पकड़ कर लाऊँगा। ऐसी दशा में मिलने का बहाना करके धोखा देने की वृत्ति पहले अफ़ज़लखाँ के मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था।"

शिवाजी की समाधि की दशा कैसी थी। यह अगर आप को जानना है तो डगलस साहब का समाधि-वर्णन पढ़िये। वह लिखते हैं:—

"समाधि का अन्तर्मार्ग झाड़-झंखाड़ से घिर गया है। धर्मशाला के फ़र्श में से भी बड़े बड़े वृक्ष उग आये हैं

इसी प्रकार उस के पास के देवालय की भी बड़ी शोचनीय दशा है। उस की मूर्तियाँ नीचे फेंक दी गई हैं।······बम्बई सरकार ने इन सबको ठीक रखने के लिये केवल पाँच रुपया वार्षिक की मंजूरी दी है। इसका एक मात्र कारण यही है कि अंग्रेज़ परकीय हैं।"

सुना आपने। पाँच रुपया साल शिवाजी की समाधि के लिये इस ब्रिटिश सरकार ने दे रक्खा था। यह शिवाजी का अपमान न था, देश का अपमान था, देशवासियों का अपमान था, देश की उठती उमंगों का अपमान था। और यह पाँच रुपये भी जब दिये जाते थे जब कि सरकार जानती थी कि मराठेशाही में सैकड़ों रुपये प्रतिवर्ष समाधि के उत्सव में खर्च होते थे।

७ मई के केसरी में तिलक ने स्मारक संबंधी एक समिति बनाने का सुझाव रक्खा। समिति बनी। केसरी में चंदे देने वालों के नाम प्रकाशित होने लगे। १ अक्टूबर के केसरी में लिखा है कि यह चंदा ६०००) के ऊपर पहुंच गया। ग्वालियर उज्जैन आदि स्थानों में सभाएँ हुईं। मराठे सरदार इस आंदोलन में कूद पड़े। ५ नवम्बर तक चन्दा ११०००) के ऊपर पहुँच गया।

राष्ट्रीय सभा के मंत्रिपद का परित्याग कर भी तिलक उसे न भूले थे। २६ दिसम्बर को उन्होंने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के सभापतित्व में एक बड़ी सभा की। सभा रे मार्केट के मैदान में हुई। अपार जनसमूह था। एक बड़े वृक्ष की शाखा पर रेशमी डोर से छत्रपति शिवाजी की तस्वीर टाँगी गई। सुरेन्द्र बाबू

और मालवीय जी के जोशीले भाषण हुए।

इस बार रायगढ़ पर जितनी भीड़ हुई उतनी संभवतः सौ-सवा सौ वर्ष में भी कभी न हुई थी। सबेरे विनायक शास्त्री का नगरकीर्त्तन हुआ। घोटवड़कर की भजन मंडली भी ऊँची आवाज़ में गा रही थी—"उठा चला हो करा तयारी, रायगढ़ी जाऊँ"। ऐसा लगता था मानो पूरा महाराष्ट्र वहाँ उमड़ आया हो। शरीर पर मिर्जई और कमर में लंगोटी पहिने गरीब मावले लोग भी कम्बल में रोटियाँ बाँध कर वहाँ आये। सबने अपनी अपनी स्थिति के अनुसार नारियल और सुपारी गद्दी के सामने भेंट की।

तिलक एक महान राजनीतिक पंडित थे। ब्रिटिश इतिहासकारों ने शिवाजी को लुटेरा कहा था, तिलक ने उन्हीं शिवाजी को स्वराज्य का संस्थापक बनाया। इस तरह उन्होंने वास्तविक लुटेरे की ओर उंगली उठायी। शिवाजी को प्रतीक बनाकर उन्होंने राष्ट्रीय विचारों को जनता में बिखेर दिया। इतिहासकारों को नया मार्ग दिया। भारतवासियों को नई चेतना दी। लोग शिवाजी के राज्य के लिये, स्वराज्य के लिये आतुर हो उठे जब उन्होंने उत्सव के अंत में कहा—

"जिस प्रकार अंग्रेज़ों ने आलिवर क्रामवल का स्मारक बनाया, अथवा फ्रांसीसियों ने नेपोलियन बोनापार्ट की स्मृति रक्खी, उसी प्रकार हम भी अपने स्वराज्य संस्थापक का स्मारक बना रहे हैं। इस में अराजनिष्ठा का कहीं नाम भी नहीं है।"

पूने में सातों प्लेग

१८९७ में भारत में अकाल, प्लेग, भूचाल, युद्ध और अत्याचार सबने एक साथ आक्रमण किया। रानडे के शब्दों में ऐसा प्रतीत होता था—"मानो सातों प्लेग भारत पर छोड़ दिये गये हैं।"

सार्वजनिक सभा द्वारा अकाल आंदोलन ज़ोरों से आरंभ हुआ। सभा में आंदोलन की स्फूर्ति उत्पन्न करने वाले भी तिलक थे और केसरी में लिखने वाले भी वही थे।

तिलक लिखते हैं—"यह कहने की आवश्यकता नहीं रही कि अब अकाल पड़ने में कोई कसर नहीं रह गई। क्योंकि अब पशु घास के मूल्य बिकने लगे हैं और घास का मूल्य सोने के भाव हो गया है।" (१६ नवम्बर १८९६ के केसरी से)

इधर सार्वजनिक सभा की ओर से तिलक ने चारों ओर अपने आदमी भेज दिये। सार्वजनिक सभा के तीन व्यक्तियों पर दिसम्बर १८९६ में अभियोग चलाया गया। जिस समय यह अभियोग आरम्भ हुआ उस समय तिलक कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन में गये हुए थे। उन्हें तार दिया गया। साथी संकट में हैं—यह सुनते ही वह उसी दिन पूना लौट पड़े। ३५ घंटे की लगातार यात्रा करके जब रात के ३ बजे तिलक पूना पहुँचे तो उस समय भी उन्होंने अपने घर लोगों को प्रतीक्षा करते हुए देखा। ऐसी थी उनकी लोकप्रियता। ऐसा था उनमें विश्वास!! और फिर पल भर भी विश्राम न करके वह मामले में लग गये।

अभियोग के पहले तिलक ने एक विराट सभा की। उनके साथियों को आज सरकार ने घेर लिया था इस लिये वह सहायता के लिये जनता के पास दौड़े। जनमत मांगा। इस सभा में तिलक ने कहा—"वर्त्तमान राज्य एकमात्र कानून परआधारित है। अतएव यदि सरकार के कानून को हाथ में लेकर उसे लोगों को भली भाँति समझाने से ही प्रो० साठे पर मामला चलाया जाता है तो फिर मेरा तो यह रात-दिन का काम है कि हज़ारों लोगों को कानून की बातें समझाता हूँ। ऐसी दशा में मुझ पर हज़ारों मुकदमे चलने चाहिये।"

इस शब्दों में तिलक ने कानून के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा। इन शब्दों में तिलक ने सरकार के विरुद्ध सब कुछ कह लिया। वह अपने भाषण में सावधान थे। वह अपने लेखों मे सतर्क थे।

तिलक की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने केवल राजनैतिक कार्य नहीं किये, उन्होंने केवल आन्दोलन नहीं किये वरन उन्होंने रचनात्मक कार्य भी किये। उन्होंने सार्वजनिक सभा की ओर से शोलापुर जाकर जुलाहों के लिये योजना तैयार कर सरकार के सामने पेश की और व्यापारियों की सहायता की उनके प्रयत्न से पूने में सस्ते अनाज की दुकानें खोली गईं। आप सोचते थे कि ब्रिटिश सरकार ने द्वितीय महायुद्ध मे राशनिंग की दुकानें खोल कर एक बिल्कुल नई योजना बनाई। पर देखा आपने, तिलक को इस की भी सूझ थी।

अकाल से जनता त्रस्त थी। चारों ओर भूख की हूक उठ रही थी। फिर भी जनता को ज़बरदस्ती लगान देना पड़ रहा था। तिलक ने यह दशा देखी तो केसरी में लिखा—

"क्या तुम लोग कायरता और भूख से अपने आप को मार डालोगे जब कि महारानी चाहती हैं कि कोई मरे नहीं, जब कि राज्यपाल कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य जीवित रहे और जब कि सैक्रेटरी ऑफ़ स्टेट तुम्हारे लिये कर्ज़ लेने को तैयार हैं। यदि तुम्हारे पास देने को लगान है तो अवश्य दो। लेकिन अगर नहीं है तो क्या तुम अपनी वस्तुओं को बेच कर लगान दोगे केवल इसलिये कि नीचे के सरकारी अफ़सरों का क्रोध तुम पर न आये। क्या तुम मौत के मुँह में भी वीर नहीं बन सकते।"

तिलक यह लिख कर ही चुप न बैठ गये। उन्होंने स्वेच्छा-पूर्वक शोषित जनता की सहायता करने वालों का संगठन किया और ग्रामीणों को ज़बरदस्ती लगान देने से रोका।

तिलक स्वयं इस बात को जानते और मानते थे कि रोगी के घर रहने की अपेक्षा उस का अस्पताल में रहना अच्छा है:—

"अस्पताल में किसी रोगी के मरने पर यह खबर उड़ाया जाना कि वहाँ जाने से ही वह मर गया है अथवा मार डाला गया है—एकदम झूठ है। क्योंकि अस्पतालों को स्वयं हमने अपनी आँखों से देखा है। रोगी के साथ घर के दो एक आदमियों को भी वहाँ जाने दिया जाता है। रोगी के लिये खाने-पीने एवं औषधोपचार के लिये भी वहाँ अच्छा प्रबन्ध होता है।

ऐसी दशा में घर से रोगी को बाहर निकालने में ही जो कुछ बुरा लगता हो वह भले ही लगता रहे किन्तु वहाँ की व्यवस्था किसी भी प्रकार बुरी नहीं कही जा सकती।"

(१६-२-१८९७ के 'केसरी' से)

राज्यपाल ने अपने भाषण में कहा कि यदि कोई मनुष्य अपने घर के रोगी को छिपाकर रक्खेगा तो उसके घर की जाँच कर सख्ती के साथ रोगी को वहाँ से निकाल कर अस्पताल में पहुँचा दिया जायगा।

जाँच के लिये फौजी लोग आये, गोरे आये। वे लंठ थे। राज्यपाल के 'सख्ती' शब्द को वह मुलायमियत से न समझ सके। सख्ती हुई। और वह भी फौजी सख्ती। फौजी लोग अगर घर में घुस जाँय तो घर को विध्वंस तो होना ही है। हर घर प्लासी, पानीपत, कलिंग, खंडवा और वाटरलू का छोटा-मोटा मैदान मालूम पड़ने लगेगा। यदि ऐसा हुआ तो इस में आश्चर्य ही क्या! क्या ब्रिटिश सरकार गोरों को घरों में भेज कर यह आशा कर रही थी कि वे हाथ जोड़ कर लोगों से प्रार्थना करेंगे कि आप रोगियों को कृपया अस्पताल भेज दीजिये। सर्वत्र त्राहि त्राहि मच गई। अप्रैल और मई के सुधारक से आपको गोरों के इन अत्याचारों की जानकारी हो सकती है। आगरकर लिखते हैं–

"घर में यदि प्रसूता स्त्री हो तो उस तक को बाहर निकाल देना, आँखे दुखती रहने पर उसे हाथ पकड़ कर बाहर खींच लेना, इन्हीं सब अधाधुंधियों का जोर शोर है। समझ में नहीं

आता कि यह प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध है या उपद्रवकारियों की पिशाच लीला या रैंडशाही का खेल ?"

(१२-४-१८६७ के 'सुधारक' से)

और सुनिये—

"अब स्त्रियों के शरीर पर हाथ डालने के हौसले बढ़ गये हैं। और यह सब होते हुए भी हम अपने समाज को देखते हैं तो वह एकदम शांत प्रतीत होता है। हमें बड़ी लज्जा के साथ कहना पड़ता है कि सचमुच ही हमारे भाईयों की तरह नामर्द, साहसहीन व्यक्ति दुनिया में कहीं भी न मिल सकेंगे। भारतवासियो, तुम इतने निःसत्व कैसे हो गये हो ? अपने आत्म जनों की मान रक्षा के लिये कुछ तो साहस दिखाओ।" (१६-४-१८६७ के 'सुधारक' से)

अत्याचार जब बढ़ जाते हैं, घड़ा जब भर जाता है तो अपने आप फूट जाता है, या तोड़ दिया जाता है। घड़ा तोड़ दिया गया। एक टूटा। बिल्कुल चूर चूर हो गया। रैंड की हत्या हो गई। अब तक गोरे कुछ कर रहे थे। अब लोगों ने कुछ किया। बहुत कुछ किया।

राजद्रोही या राष्ट्र प्रेमी

२२ जून की रात को रैंड साहब की हत्या हुई। प्लेग संबंधी त्रास से संतप्त होकर यह हत्या चाफेकर ने की। तिलक का इस हत्या से न कोई संबंध था न सरोकार।

१ जून १८९७ के केसरी में तिलक ने विभूति पूजा पर एक सुन्दर लेख लिखा। विट्ठल मंदिर में १२ जून १८९७ को यह उत्सव आरंभ हुआ। दूसरे दिन विचूरकर के बाड़े में पौरुष के खेल हुए। रात को तिलक की अध्यक्षता में प्रो० भानु का 'अफजल खाँ के वध' पर भाषण हुआ। इस भाषण में उन्होंने इस हत्या के अपराध से शिवाजी को दोषमुक्त किया। अवसर था ही। तिलक के एक शत्रु ने सांकेतिक नाम से बम्बई के टाइम्स में पत्र छाप कर केसरी में प्रकाशित उत्सव का वर्णन और टिप्पणियों में से कुछ अंश लेकर उलटा-सीधा अनुवाद करके यह दिखाया कि उत्सवों के भाषणों में राजद्रोह भरा है। इसके एक सप्ताह बाद ही पूना में रैंड की हत्या हुई।

तिलक एक निडर और निर्भीक सेनानी थे। अपनी आत्मा की आवाज़ को वह अपनी लेखनी द्वारा जनता तक—अपने स्वतंत्रता संग्राम के सैनिकों तक बराबर पहुँचाते रहे। वह जानते थे कि उन के शत्रु अवसर पर दांत जमाये बैठे थे। वह यह भी जानते थे कि रैंड के खून के कुछ छींटे उन पर भी फेंके जायगे। पर सांच को आंच क्या? दो सप्ताह बाद ही ६ जुलाई १८९७ को

उन्होंने 'क्या सरकार का दिमाग ठिकाने पर है' शीर्षक लेख लिख ही दिया। जैसा शीर्षक वैसा लेख। उन्होंने कहा—

"जिस प्रकार किसी बड़े हाथी के उन्मत्त हो जाने पर वह सर्वत्र त्राहि त्राहि मचा देता है लगभग वही दशा सरकार की भी हो रही है। जो खून कि हत्यारे को चढ़ना चाहिये वह अब सरकार को चढ़ रहा है, इस लिये उसकी दृष्टि एक दम बदल सी गई है।"

रैंड साहब की श्मसान यात्रा में योरपियनों के साथ साथ कुछ हिन्दुस्तानी भी स्वेच्छा पूर्वक गये थे। पर द्वार पर ही वह सब रोक दिये गये। रोक जाने वालों में डा० भान्डरकर, डा० कावसजी आदि थे।

२० जुलाई १८९७ के केसरी में तिलक पूछते हैं— "राजद्रोह किसे कहते हैं?" इस विषय में लिख कर तिलक पहले से अपने लिये सामग्री जुटा रहे थे। इसी अङ्क में तिलक ने यह सूचना भी प्रकाशित की थी कि प्लेग-विषयक जिस किसी को कुछ शिकायत करनी हो वह सप्रमाण केसरी को सूचित करें। इस एक सप्ताह में जितनी शिकायतें तिलक के पास पहुँची तथा गोरों के अत्याचारों के जितने प्रमाण मिल सके उनको लेकर २७ जुलाई १८९७ को तिलक बम्बई चल दिये। वह बम्बई के चैम्पियन आदि पत्रों में इन्हें प्रकाशित कर भांडा फोड़ने के इरादे से बम्बई गये थे। उधर सरकार भी तिलक पर अभियोग चलाने के लिये सामग्री जुटा रही थी। २७ जुलाई को सरकार

वकील निकलसन ने दस्तखती दावा दफा १२४ (अ) के अनुसार बम्बई के चीफ प्रेसिडेन्सी मैजिस्ट्रेट के सामने पेश किया और गिरफ्तारी और तलाशी के वारंट ले लिये।

गिरफ्तारी का वारंट तिलक, आर्यभूषण प्रेस के मैनेजर बाल और प्रेस के स्वामी हरी नारायण गोखले इन तीन के नाम था। रात के दस बजे तक तिलक पर वारंट का प्रयोग नहीं हुआ। रात को भोजन से निवृत्त हो तिलक अपने मित्र दाजी आबाजी खरे वकील हाईकोर्ट के साथ बैठे ही थे कि एक योरोपियन पुलिस अफ़सर ने आकर तिलक को वारंट दिखलाया। पल भर में ही उन्हें सब बातें समझ में आ गईं। उन्होंने नौकर को बुलाकर जल्द बिस्तर बांधने को कहा। फिर खरे से कहा कि वह मैजिट्रेट से पूछ लें कि वह ज़मानत देने को तैयार है या नहीं। यह कह कर वह सार्जेन्ट के साथ गाड़ी मे आकर बैठ गये। मोटर चल पड़ी, तेज़ बहुत तेज़। फ़ोर्ट पहुँचते ही उन्हें एक कमरे में छोड़ कर ताला लगा दिया गया। दाजी साहब स्लेटर से मिले उन्होंने ज़मानत लेने से इन्कार किया। इस की आशा थी। निराश होकर जब दाजी साहब तिलक को यह सूचना देने ११½ बजे रात में पहुँचे तो तिलक खर्राटे ले कर सो रहे थे। उन्हें ज़मानत पर छूटने की आशा न थी इसी लिये तो आराम से सो रहे थे।

इधर अभियोग चल रहा था, उधर गिरफ्तारियाँ चल रहीं थीं। पुलिस कप्तान पचास सिपाहियों को लेकर बाला साह

नातू और तात्या साहब नातू को पकड़ लाये। पहले को साबरमती की जेल में रक्खा गया और दूसरे को थाना जेल में। पर जिस दफ़ा के अन्तर्गत यह लोग बंदी किये गये थे वह इतनी पुरानी थी कि लोग उसे भूल गये थे। आप पूछेंगे क्या था यह कानून। सुनियेगा तो हंसी आये बिना न रहेगी। यदि सरकार की इच्छा खुली अदालत में अभियोग चलाने की न हो तो वह इसके अनुसार उस व्यक्ति को बंदी कर उस की ज़मीन-जायदाद ज़ब्त कर सकती है और उसमें से उसे खाने को भी दे सकती है। सुना आपने। कैदी रहेंगे पर सरकारी ख़ुराक नहीं मिलेगी। कैदी रहेंगे पर अभियोग चलाने के लिये नहीं कह सकेंगे। यह न्याय के साथ अन्याय था। जोरा-जोरी थी। इसी लिये जब तक नातू जेल में रहे समाचार पत्रों में इस की टीका होती रही। लोकमत चीख उठा। भारत में और विलायत में, हर कानून जानने वाला, कानून को इस तरह रस्सियों से बंधा देखकर इन गाठों को खोलने में लग गया। जनमत जितना नातू के बंदी किये जाने पर उत्तेजित हुआ था, उतना तिलक पर नहीं। यह नातू और तिलक का प्रश्न न था। यह तो कानून की मर्य्यादा भंग करने का प्रश्न था। कानून को तोड़ने मोड़ने का प्रश्न था। प्रश्न यह था कि क्या कानून राज्याज्ञा के भय से अपना घर छोड़ देगा, राजनीति के घर में टहल करेगा।

नातू बन्धुओं ने जनता की हलचल को देखा। उन्होंने अर्ज़ी पर अर्ज़ी भेजना शुरु कर दी। उनका कहना था कि या तो ह

को छोड़िये या खुली अदालत में अभियोग चलाइये। अकारण किसी मनुष्य का मुँह बंद कर देना डाकुओं का काम है, चोरों का भी नहीं। फिर यहाँ तो समूचे मनुष्य को बन्द कर दिया था। ऐसा करने वाले डाकुओं से भी बड़े थे। उन को क्या संज्ञा दी जाय यह विदेशी सरकार से ही पूछिये। पर ऐसी नीति ज्यादा दिन चल नहीं पाती। कभी नहीं चली, तो अब क्या चलती। फलतः सरकार को नातू बन्धुओं को छोड़ना पड़ा।

इधर २ अगस्त १८९७ को हाई कोर्ट में न्यायाधीश बदरुद्दीन तैयब के सामने तिलक को ज़मानत पर छोड़ने की अर्ज़ी दी गई। तिलक की ओर से बैरिस्टर दावर खड़े हुए थे। उन्होंने कहा कि जेल में रहने से तिलक के मुकदमे में तैयारी करने में कठिनता होगी।

अदालत में बहस हो रही थी। एकाएक न्याय मूर्ति तैयब ने पूछा—

"तुम कितनी ज़मानत देने को तैयार हो।" बैरिस्टर दावर ने उसी ढंग से उत्तर दिया—

"जितनी भी आप चाहें हम देने को तैयार हैं।"

हाईकोर्ट की आज्ञा हुई—पच्चीस हज़ार की दो ज़मानतें और पचास हज़ार का जात मुचलका लेकर तिलक को छोड़ने की आज्ञा हुई। और तिलक छोड़ दिये गये। सरकार ने नाक सिकोड़ी। जनता ने खुशी मनाई। ज़मानत देने वाले थे आपा साहब नेने और सेठ द्वारिकादास धरमसी। ज़मानत पर छोड़ने

को न्या० रानडे राजी न हुए थे। यद्यपि वह हिन्दू थे। ज़मानत पर छोड़ने को न्या० तैयब राज़ी हो गये थे यद्यपि वह मुसलमान थे।

तिलक के ज़मानतदारों को सरकार धीरे धीरे तोड़ रही थी। उसने ऐसे ही डा० भालचन्द्र को तोड़ लिया। इन्होंने मैजिस्ट्रेट की अदालत में कहा था कि यदि तिलक के लिये पांच लाख की ज़मानत देनी पड़े तो भी मैं तैयार हूँ। सरकार ने उन्हें तुरन्त ही धारा सभा का सदस्य बना दिया। अब जब हाई कोर्ट में ज़मानत देने का प्रश्न उठा तो डा० भालचन्द्र ने कहा कि जब सरकार ने मुझे अपनी ओर से धारा सभा का सदस्य चुन लिया है और मुझ पर विश्वास रक्खा है तो फिर मैं उसके विरुद्ध ज़मानत देने को खड़ा नहीं हो सकता। मनुष्य इस तरह से खरीदा जाता है। जानवरों के खरीदने का ढंग साधारण होता है। मनुष्य का असाधारण। जानवर के साथ उसके बच्चे बेचे जाते हैं, मनुष्य के साथ उसके सिद्धान्त। बात वही है। छोटे बड़े का अन्तर है।

ज़मानत पर छूटने के पांच सप्ताह बाद ८ सितम्बर १८९७ को यह मुकदमा हाईकोर्ट में आरम्भ हुआ।

काला कानून

ज़मानत पर छूटते ही तिलक पूना पहुँचे। उधर पूना निवासियों ने सार्वजनिक 'डिफ़ैंस फ़ंड' का आयोजन किया। दूसरे दिन से चन्दा आने लगा। अन्य प्रान्तों में भी चन्दा ज़ोरों से एकत्रित होने लगा। अमृत बाजार पत्रिका के संपादक शिशिर कुमार और मोतीलाल घोष ने चन्दे के लिये अपील की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बंगाल के कोने कोने में अपने आदमी भेजे। वासुदेव राव जोशी ने अपने इष्ट मित्रों से थोड़ा थोड़ा रुपया उधार लेकर तिलक के हाथ में रख दिया।

तिलक एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे। उन्हें विश्वास था कि इस अभियोग में सज़ा अवश्य होगी। अतएव उन्होंने अपना वसीयतनामा भी तैयार कर लिया था। जब यह कागज़ लिखने के लिये धोंडोपंत विध्वंस को वसीयत बोलने लगे तो साम्पत्तिक स्थित की कल्पना कर लिखने और लिखाने वाले दोनों की आँखों में आँसू झलक आये। तिलक के पास था ही क्या? जायदाद के नाम पर एक मात्र केसरी पत्र ही था। और साथ में था उस का कर्ज़।

रैंड साहब के हत्यारे का पता लगाने के लिये ब्रुइन साहब की नियुक्ति हुई। वह पूना गये और वहाँ उन्होंने अपनी खुफ़िया जांच आरम्भ कर दी। वह खुफ़िया जांच के लिये प्रसिद्ध थे। पुलिस विभाग के थे। चतुर थे। उन्होंने पूना में रह कर दूसरे

दिन से तिलक के यहाँ जाना आरम्भ कर दिया। गप्पें छिड़ती थीं। दोनों की यही कोशिश रहती थी कि ऐसी कोई बात मुँह से न निकल जाय जो दूसरा पकड़ ले। इन की बातों में बुद्धिमानी और धूर्तता कंधे से कंधा मिला कर चलती थी। ब्रुइन इस कोशिश में रहते कि हत्यारा किस जाति या समाज का व्यक्ति हो सकता है इस विषय में तिलक के मुँह से कुछ गिर जाय तो वह उठा लें। तिलक इस कोशिश में थे कि ब्रुइन द्वारा उन के मुक़दमे में सरकार क्या क्या कर रही है, यह मालूम हो जाय तो वह अगला कदम उसी प्रकार उठावें। पर यह लुका-छुपी का खेल कितने दिन चलता। एक दिन दोनों आमने-सामने आ ही गये। खुल पड़े। सुनिये उनकी वार्त्ता:—

"ब्रुइन—यदि आप निश्चय कर लें तो इस हत्या के मामले मे हमें आप से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। फिर क्यों आप हमारी सहायता करने के लिये तैयार नहीं होते ?

तिलक—प्रथम तो मैं समझ ही नहीं सकता कि किस प्रकार आपकी सहायता कर सकूँगा। क्यों कि मुझे इस विषय की जानकारी ही कहाँ से प्राप्त हो सकती है। फिर भी आपको स्मरण रखना चाहिये कि भूल-चूक से यदि मुझे किसी तरह कोई बात मालुम भी हो गई तो मैं उसे प्रकट नहीं करूँगा। क्यों कि अपराधी को सज़ा दिलाना न्याय समझते हुए भी मैं किसी के लिये गुप्तचर बन कर काम नहीं करूँगा। और न अपनी ओर से किसी के ऊपर विश्वासघात ही होने दूँगा। इसी प्रकार मैं

आपके कार्य में भी बाधा नहीं डालूँगा।"

ब्रुइन साहब निराश थे। उन्हें क्या मालूम था कि तिलक की उत्तेजना की नींव उन के अतुलित नैतिक बल पर रक्खी हुई थी। इस लिये उन की यह उत्तेजना कभी डॉवाडोल न होती थी। उन के नैतिक बल की चट्टान से टकराकर ब्रिटिश कूटनीति चकनाचूर हो गई।

तिलक की सज्जनता का प्रभाव ब्रुइन साहब पर भलीभांति पड़ चुका था। अतएव उन के हृदय में तिलक के प्रति एक स्वाभाविक सहानुभूति उत्पन्न हो चली थी। वह इस बात का आग्रह करते रहे कि सैशन में तिलक अपना मुकदमा कुछ दिन के लिये बढ़ा लें। उनका अनुमान था कि यदि हत्यारे का पता चल कर उसे सज़ा हो गई तो फिर तिलक पर से सरकार की कोप-दृष्टि अपने आप बदल जायगी और उस दशा में या तो उनको छोड़ दिया जायगा या उन्हें नाम मात्र को सज़ा मिलेगी। इस तरह से सरकार का भेजा हुआ खूँख्वाँर शेर कुछ ही दिन बाद तिलक के सामने पूँछ हिलाने लगा।

तिलक को सज़ा न हो इस के लिये सब अपनी अपनी कोशिश कर रहे थे। कोई चन्दा इकट्ठा कर रहा था, कोई वकील तै कर रहा था। कोई जन्म पत्री देख रहा था। प्रो० जिन्सी वाले तिलक से अनुरोध कर रहे थे कि जैसे भी हो मुकदमे को महीने भर के लिये आगे बढ़ा लो क्योंकि जन्म पत्री के अनुसार यह पखवारा अनिष्टकारी है। पर तिलक का विश्वास था कि हत्यारे

का पता लग जाने पर भी सरकार इस अभियोग को वापस न लेगी। कुछ लोगों ने तिलक के पास तावीज़ भेजी, कुछ ने प्रसाद और कुछ ने देवताओं पर चढ़े फूल।

जनमत तिलक के साथ था। तिलक पर अभियोग की सुनकर लोगों की सहानुभूति, सहृदयता, और संवेदना का एक स्रोत सा उमड़ आया—अपने आप, अकस्मात, अनायास।

ब्रिटिश-न्याय बरसों ब्रिटिश-नीति की गोद में खेलता रहा है। ब्रिटिश-न्याय ने जब जब इस गोद से निकल भागने की चेष्टा की, ब्रिटिश नीति सौतेली माँ की तरह झुँझला पड़ी, क्रुद्ध हो गई। तभी तो जब तिलक के ज़मानत पर छोड़ दिये जाने का संवाद तार से विलायत पहुँचा तो लार्ड हेरिस ने लंडन टाइम्स में पत्र छाप कर शिकायत के रूप में लिखा—"बम्बई हाई कोर्ट ने सरकार की इज्ज़त घटाने की ज़िद सी पकड़ ली है।"

८ सितम्बर १८९७ को न्या० स्ट्रेची की अदालत में मुकदमा आरम्भ हुआ। ज्यूरी बनी। दूसरे दिन मि० बेग की गवाही हुई और प्यू साहब की बहस।

तीसरे दिन इस वाक्य का अर्थ निश्चित होता रहा कि "म्लेच्छों को भारत के राज्य का ताम्रपत्र ईश्वर ने लिख कर नहीं दिया है।" 'म्लेच्छ' शब्द की व्याप्ति और 'नहीं दिया' के व्याकरण पर ज़ोरों से बहस हुई। लीजिये मैं आपको न्यायालय में ले चलता हूँ:—

"तिलक—'नहीं' अर्थात 'न'। इस का भूत कालिक स्वरूप

ही नहीं हो सकता है। इसका उपयोग वर्त्तमान, भूत, भविष्य तीनों काल की धातु साधितों से किया जाता है; और उसी पर से वर्त्तमान, भूत या भविष्य काल का बोध हो सकता है। धातु साधितों पर से ही काल का बोध होता है। जैसे कि 'नहीं' पर से उस क्रिया के अस्तित्व का न होना ही सिद्ध होना है।

न्या०—म्लेच्छ शब्द जिस वाक्य में आया है उसके विषय में तो तुम्हें इससे अधिक कुछ नहीं कहना है।

तिलक—मेरे कथन का आधार कृष्णशास्त्री गोड़बोले का व्याकरण का नियम ही है।"

और फिर न्यायालय इस वाक्य पर आकर रुक गया—

"जो लोग राष्ट्र को नीचे दबाते हों उन्हें छांट निकालो।"

इस छांट निकालो पर, इस 'छाटून टाका' पर घंटों बहस हुई। यह वाक्य सरकार को असह्य था। पर इसी वाक्य के विचार से प्रेरित होकर सरकार ने तिलक के विरुद्ध अभियोग चलाया। उनकी समझ से तिलक उनके राष्ट्र (साम्राज्य) को नीचे दबा रहे थे। राष्ट्रीय विचार तो वही एक था। जब उसे ब्रिटेन निवासियों ने ग्रहण किया तो उस में राष्ट्रीयता झलकने लगी और जब वही भाव भारत की जनता के हृदय में उद्दीप्त हुआ तो उस में राजद्रोह की बू आ गई। मैं पूछता हूँ न्याय को दूषित करने का अधिकार ब्रिटेन को किसने दिया है। कल तक जो तिलक ब्रिटेन के लिये राष्ट्रद्रोही थे वह आज हमारे लिये राष्ट्र निर्माता कैसे हो गये? ब्रिटेन के न्यायालय ने जिसे अपराधी

कहा, भारत के घर घर में उस की पूजा क्यों हो रही है ? क्या न्याय की सीमा इतनी छोटी है ? क्या मानवीय गुण इतने अपूर्ण हैं ?? क्या मानवता का विवेक इतना शिथिल हो गया है कि अच्छाई और अच्छाई के बीच खड़ी दीवार को नहीं गिरा सकता ??? इन प्रश्नों का उत्तर तिलक ने बारम्बार दिया पर उन की सुनवाई नहीं हुई। इन्हीं प्रश्नों का उत्तर ब्रिटेन ने हार कर १५ अगस्त सन् १९४७ को दिया। न्याय पर बांधी हुई अपनी कृत्रिम परिधि को लाँघ कर ब्रिटेन न्याय की नैसर्गिक धरा पर आ गया। इस तरह ८ सितम्बर १८९७ में आरम्भ हुए मुकदमे का वास्तविक न्याय १५ अगस्त १९४७ को सुनाया गया।

एडवोकेट जनरल श्री लंग का भाषण पौने दो घंटे में समाप्त हुआ। फिर तिलक की ओर से बोलने के लिये बैरिस्टर प्यू खड़े हुए। उन्होंने कहा—"जिस प्रकार आप लोग अपने उत्सवों में मनमाना बकवास करते या बड़बड़ाते या आवेशयुक्त भाषण करते हैं तथा होम रूल मांगने लग जाते हैं किन्तु फिर भी आप को कोई अराजनिष्ठ नहीं बतलाता तो फिर आपको यही नियम तिलक के विषय में काम में लाना चाहिये। ये उत्सव ठीक पाश्चात्य भूमिका पर खड़े किये गये हैं।"

पांचवे दिन अर्थात १३ सितम्बर १८९७ को प्यू साहब ने उपरोक्त भाषण समाप्त करके दफा १४४ का सच्चा आशय बतलाया। संध्या के पाँच बजे पंच लोग उठकर दूसरे बरामदे में चले गये। पौन घन्टे में ज्यूरी लौटी। सब ने एक मत हो

कर दूसरे आरोपी केशवराव बाल को निर्दोष सिद्ध किया। प्रथम आरोपी तिलक के विषय में एकमत न था। ६ ने उन्हें दोषी बतलाया और ३ ने निर्दोष। तिलक से कहा गया कि यद्यपि उन पर आरोप सिद्ध हो चुका है फिर भी वह अपनी वसीयत के लिये कुछ कहना चाहते हों तो कहें। तिलक ने कहा—

"ज्यूरी भले ही मुझे दोषी बतलाते रहें किन्तु मैं तो अपने आपको निर्दोष ही समझता हूँ। साथ ही मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैंने यह लेख राजद्रोह के उद्देश्य को सामने रख कर नहीं लिखे हैं और मैं नहीं समझता कि उन का परिणाम राजद्रोह उत्पन्न करने वाला होगा। लेख में प्रयुक्त शब्दों का भी अर्थ करने के लिये सरकार की ओर से ही किसी विद्वान को बुलवाना चाहिये था, वह भी नहीं हुआ।"

६ बजे शाम को जज ने अपना निर्णय सुनाया। उन्होंने कहा—"यद्यपि तुम्हारा अपराध बड़ा अवश्य है पर भयंकर नहीं। ..... प्लेग के सिलसिले में तुमने सरकार और जनता की बड़ी सेवा की है। किन्तु फिर भी तुम्हारी बुद्धिमता और विद्वत्ता पर विचार करते हुए यही कहना पड़ता है कि ऐसे लेख लिख कर तुम ने बहुत ही बुरा काम किया है।......इन सब बातों का विचार करके मैं तुम्हें केवल १८ महीने की सख्त मज़दूरी सहित जेल की सज़ा देता हूँ।"

शाम के साढ़े ६ बजे अदालत उठ गई। पुलिस ने जल्दी से तिलक को मोटर में बिठाया, और गाड़ी जेल की ओर

दौड़ने लगी।

अपील की अर्ज़ी पर १७ सितम्बर १८९७ को तिलक के हस्ताक्षर करा कर वह अदालत में पेश की गई। २४ सितम्बर १८९७ को हाईकोर्ट ने उस पर विचार किया। तीन जज थे, पर उन में एक स्ट्रेची भी थे। यद्यपि यह अपील स्ट्रेची के दिये हुए निर्णय के विरुद्ध थी फिर भी वह उन जजों के बीच बैठे थे। सोच लीजिये फिर क्या न्याय हो सकता था?

तिलक डिफैन्स फ़न्ड के लिये देश भर में सभाएँ हुई। गुरुदेव टैगोर ने मुख्य भाग लिया। तिलक को छुड़ाने के लिये कितने लोगों ने कोशिश की। मैक्समूलर भी उनमें से एक थे। उन्होंने कहा—"तिलक में मेरी दिलचस्पी संस्कृत के एक विद्वान के नाते है।"

तिलक को बचाने के लिए लोग पागल थे। किसी तरह से तिलक बच जाँय–सब को यही धुन थी। कुछ लोगों ने उन्हें सीख दी कि वह इन्कार कर दें कि वह लेख उन्होंने नहीं लिखा। तिलक ने ऐसा करने से इन्कार किया और कहा—"हमारे जीवन में एक ऐसा समय आ जाता है जब कि हम अपने स्वामी नहीं रह पाते, पर अपने देश वासियों के प्रतिनिधि होकर ही बोल सकते हैं।"

तिलक के जेल जाते ही नरसिंह चिन्तामणि केलकर और धोंड़ोपंत विध्वन्स ने केसरी और मराठा को सम्हाला। इधर विलायत में अपील की योजना भी फ़ौरन हो गई। २ अक्टूबर

१८९७ को तिलक के मित्र दाजी आबाजी खरे कागजों को लेकर लंदन को चल दिए। इस समय देशी विदेशी का अन्तर ऊपर आ चुका था। सभी भारतीय समाचार पत्रों ने तिलक को दी हुई सज़ा का विरोध किया। सभी ऐंग्लो इंडियन और विलायत के पत्रों ने इस सज़ा का स्वागत किया—कुछ ने मन ही मन और कुछ ने खुल कर। ज्यूरी में जितने अंग्रेज थे उन सबने तिलक को दोषी ठहराया। ज्यूरी में जितने भारतीय थे उन सब ने तिलक को निर्दोष ठहराया। तिलक के कुछ मित्रों ने क्षमा माँगने की सलाह दी, पर तिलक ने साफ़ इन्कार कर दिया और ठीक ही इन्कार किया क्योंकि सरकार ने इस मामले में पहले से ही निर्णय कर लिया था। यदि ऐसा न होता तो जब इसी बीच में पुलिस ने रैन्ड साहब के हत्यारे का पता लगा लिया, जब सरकार को यह मालूम होगया कि रैन्ड की हत्या में तिलक का कोई हाथ न था तब सरकार ने तिलक को गलती से पकड़ने की भूल को क्यों नहीं सुधारा? जो आँख बन्द किये हुए है उसे आप चाहें तपते हुए सूर्य के नीचे बैठा दें वह अँधेरा ही अँधेरा कहता रहेगा। सरकार की भी यही दशा थी।

तिलक की सज़ा हो जाने पर मिल मजदूरों ने उपवास किया, विद्यार्थियों ने कालेज जाना बन्द कर दिया और समाचार पत्रों ने शोक प्रकट किया, काले कानून पर आसू गिराये। इसी बीच रैन्ड का हत्यारा चापेकर पकड़ा गया और उसे फांसी की सज़ा दी गई।

१६ नवम्बर १८९७ को तिलक की अपील चार जजों के सामने आई। तिलक की ओर से बैरिस्टर आसक्वीथ, मेन और उमेशचन्द्र बनर्जी थे। इनकी सहायता कर रहे थे प्यू, गार्थ और दाजी साहब खरे। आसक्वीथ प्रसिद्ध बैरिस्टर के अतिरिक्त ग्लैडस्टन के मंत्रिमण्डल के गृह मंत्री भी थे।

आसक्वीथ ने कहा—"स्ट्रेची साहब का किया हुआ उलटा अर्थ यदि अपील में न बदला गया तो वही प्रमाण भूत हो जायगा। आगे के लिए वह प्रमाण भारत के वक्ता और पत्र-सम्पादकों के लिये सब प्रकार के राजनैतिक आन्दोलनों में विशेष रूप से घातक सिद्ध होगा।"

पर न्याय नीति के इशारे पर चल रहा था। अपील ना-मंजूर हुई। केसरी को लिखना पड़ा कि इस निर्णय के कारण अंग्रेज़ी न्याय-पद्धति पर से प्रजा जन का विश्वास उठ गया है।

आरम्भ में जेल में तिलक की हालत बहुत खराब होगई थी। जेल में रूखी-सूखी रोटी और चटनी मिलती थी। तिलक रोटी की पपड़ी पानी में भिगो कर खा लेते थे। फलतः उन का वजन ३० पौंड कम होकर ११० पौंड रह गया।

पहले वह डोंगरी के जेल में रहे और फिर भायखला में। उस समय उमरावती में काँग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। इसमें तिलक के लिए स्वतंत्र रूप से प्रस्ताव रखने का प्रयास विफल रहा। फिर भी इस अधिवेशन में नातूबन्धुओं के प्रस्ताव

पर बोलते हुए सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कहा—

"तिलक वास्तव में निरपराध हैं। शरीर से यद्यपि मैं उनके साथ उस अँधेरी कोठरी में जाकर नहीं बैठ सकता किन्तु आप फिर भी निश्चित जानिये कि मेरी अन्तरात्मा उनके साथ बस रही है।"

सुरेन्द्र बाबू के मुख से तिलक का नाम निकलते ही सभासद एक दम खड़े हो गये और बहुत देर तक उन्होंने तिलक का जय घोष किया। बाबू उमेशचन्द्र बनर्जी ने भी तिलक का उल्लेख करते हुए कहा—"स्ट्रैची साहब की व्याख्या देश के किसी भी व्यक्ति को पसंद नहीं आई, और उन्होंने कानून को भ्रष्ट कर बड़ा भारी अनर्थ किया है।"

इधर तिलक बंदी थे उधर कैम्ब्रिज यूनियन में बैपटिस्टा इस विषय पर बोल रहे थे कि तिलक को बंदी करने में सरकार की रीति अनावश्यक और गलत है। उन्होंने कहा—

"अधिकारी वर्ग से होशियार रहो। इस प्रगतिशील शताब्दी में ऐसा शासन असह्य है जो जनमत पर आधारित नहीं है, जो उत्तर दायी नहीं है। सम्पादकों पर अभियोग चलाना इस कलम को चाकू में परिणित करना है।"

(१६—६—१८९७ के 'मराठा' से)

तिलक के मित्र दाजीसाहब खरे और सरकारी मध्यस्थ ब्रुइन साहब को इस बीच यरवदा के कई चक्कर काटने पड़े। यह लोग तिलक को छुड़ाना चाहते थे। अन्त में जाकर

२ सितम्बर को तिलक के छुटकारे का प्रश्न हल होने लगा। एक नई शर्ते तैयार हुई। इसके अनुसार यदि फिर कभी तिलक पर राज-द्रोह का अभियोग होगया तो इस समय की शेष रही ६ महीने की सज़ा को तिलक उस समय भोगने को तैयार रहेंगे।

६ सितम्बर १८६८ को राज्यपाल की कौंसिल के सामने तिलक के छुटकारे का प्रश्न उपस्थित हुआ। रात को आठ बजे निश्चित शर्तों पर तिलक के छोड़े जाने का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर खरे और ब्रुइन उसे लेकर यारवड़ा पहुँचे। वहाँ नये शर्तनामा पर हस्ताक्षर करते ही तिलक का छुटकारा हो गया और वे खरे के साथ रात के साढ़े दस बजे विचूरकर के बाड़े में जा पहुँचे। इस तरह पूरे ५१ सप्ताह जेल काट कर तिलक घर लौटे। बात की बात में यह खबर देश भर में फैल गई। मिलने वालों का ताँता लग गया। मेला लग गया। जैसे कोई तीर्थ स्थान खुल गया हो। इन दो दिनों में तिलक से लगभग दस हज़ार नर-नारी मिलने आये। मंदिरों के घंटे बज उठे। दीप जले। पूजा हुई। बधाई के पत्र पर पत्र आने लगे।

१३ अगस्त १८६८ को बाबू रमेश चन्द्र ने विलायत से लिखा-

"मुझे दृढ़ विश्वास है कि आप के इस उदाहरण का सुपरिणाम भारत पर चिरकालीन होगा। आपके भोगे हुए कष्ट कभी व्यर्थ नहीं जा सकते।"

कायाकल्प

तिलक का वज़न सदा १३५ पौंड बना रहता था। जेल में वह १०५ पौंड तक घट गया था। जेल से आने पर सब लोगों की राय हुई कि तिलक एक महीने के लिये सिंहगढ़ पर रहें। उन्हें ठंडी हवा अनुकूल पड़ती थी। अतएव वह कायाकल्प करने में लग गये। उन्होंने अक्टूबर और नवम्बर सिंहगढ़ पर बिताये। वहाँ उनका स्वास्थ्य कुछ ही दिनों में सुधर गया। शरीर भरने लगा।

उन का कायाकल्प चल रहा था। मद्रास की राष्ट्रीय सभा के समाप्त होने पर वह रामेश्वर यात्रा को चल दिये। मद्रास से वह मदुरा गये और मदुरा से बैलगाड़ी से रामेश्वर। लंका होते हुए वह फ़रवरी १८९९ में पूना वापस आये।

इसी प्रकार १८९९ की लखनऊ कांग्रेस के बाद वह ब्रह्म देश हो आये। ब्रह्म देश में वह १५ दिन रंगून रहे, फिर रेल से मांडलेय आये और फिर ८ दिन रंगून रहकर कलकत्ता वापस आ गये।

तिलक के ६ महीने पहले छोड़े जाने पर ऐंग्लो इंडियन पत्रों को बहुत दुख हुआ। उन्होंने फिर आंय-बांय बकना शुरू किया। 'ग्लोब' ने २८ अक्टूबर १८९९ के अंक में लिखा—

"बम्बई प्रान्त में राजद्रोही पार्टियों के जगह जगह पर जाल से बिछ रहे हैं।..........इन गोडबोले (मृदुभाषी) ब्राह्मणों

रर—जो कि फिर से मराठा राज्य के स्थापित हो सकने की आशा किए हुए हैं—नये राज्यपाल को न केवल अविश्वास ही करना चाहिये, बल्कि पूरी पूरी नज़र भी रखनी चाहिये।"

ग्लोब के इस उद्धरण को जब बम्बई के 'टाइम्स' ने १८ नवम्बर १८९९ को उद्धृत किया तो बड़ी खलबली मची। तिलक ने मानहानि का दावा करने का निश्चय किया। दावा दायर की खबर पाते ही दूसरे दिन टाइम्स ने माफी मांगली।

अब तिलक ने 'ग्लोब' की तरफ आँखें फेरीं। उन्होंने लंदन हाईकोर्ट में 'ग्लोब' पर अभियोग चलाने की तैयारी शुरू की। वास्तव में तिलक विलायत जाने को भी तैयार थे। यह देखकर 'ग्लोब' सारी चौकड़ी भूल गया। माफी माँगी। जुर्माना दिया।

इस तरह तिलक ने विलायत के समाचार पत्रों को भारत के सूचना सम्बन्धी समाचारों को शिष्टता पूर्वक सम्पादन करना सिखाया। उन्हें बोलना सिखाया। लिखना सिखाया।

इस घटना की ओर संकेत करके उनके विपक्षी रानडे अपने अनुयाइयों से कहा करते थे—"यह देखो तिलक का उदाहरण। वैसे उनका स्वभाव कैसा ही क्यों न हो किंतु किसी काम को हाथ में लेने के बाद निश्चित पूर्वक उसे समाप्त किये बिना वे कभी पीछे नहीं हटते और इस के लिये हर एक प्रकार का कष्ट उठाने को तैयार रहते थे। यह उनका एक अनुकरणीय गुण है।"

तिलक का परिवार बहुत बड़ा कभी न रहा। घर पर उनकी पत्नी, तीन लड़कियाँ, दो लड़के और दो भानजे रहते थे। इनके कोई भाई तो था नहीं। बहन थी। कोंकण के गांव में ही रहती थी। तिलक का बड़ा पुत्र विश्वनाथ उस समय १५ वर्ष का था और छोटा श्रीधर ३ वर्ष का।

तिलक के घर में शान-शौकत नाम को न थी। सामान में बहुत थोड़ी चीज़ थीं—एक मेज, दो कुर्सी, अलमारी और एक आराम कुर्सी। दिन का आधा से अधिक समय तिलक इस आराम कुर्सी पर ही बिताते थे। हाथ में सुपारी का सरौता चलता रहता था। सुपारी खाने का ही उन्हें एक शौक़ था। तिलक की सादगी उन के सारे परिवार में दिखाई देती थी। स्वयं तो वह घर पर १५-२० घन्टे खुले बदन ही रहते थे। घर पर कोई मिलने आता था तो उन्हें यह चिन्ता कभी न होती थी कि इन से खुले बदन कैसे मिलें। इन की पत्नी पुराने ढंग की थीं। घर की देहरी को उन्होंने कभी न छोड़ा था। वह अपने घर और बच्चों में ही दिन रात लगी रहती थीं।

अपना स्वास्थ्य ठीक करने के बाद ४ जुलाई १८९९ को तिलक ने केसरी को फिर अपने हाथ में ले लिया।

शत्रुओं के जाल में

जिस प्रकार शिवाजी औरंगज़ेब के जाल में फँस कर बन्दी कर लिये गये थे उसी प्रकार ताई महाराज के मुकदमे का बड़ा जाल डाल कर ब्रिटिश सरकार ने तिलक को बन्दी करना चाहा। पर जैसे शिवाजी औरंगज़ेब के पंजे से निकल भागे उसी प्रकार तिलक भी इन षडयंत्रकारियों के जाल को तोड़कर निकल आये। पर उन्हें उसकी क़ीमत बहुत देनी पड़ी। यदि कुल हिसाब लगाया जाय तो ६ वर्ष का समय होता है जो नष्ट हुआ।

५ अगस्त १८९७ को तिलक जब ज़मानत पर छूट कर आये तो अपने मित्र बाबा महाराज की मृत्युशैया पर ७ अगस्त १८९७ को पहुँच सके। कितना अच्छा होता यदि वह ज़मानत पर न छूटे होते या दो दिन बाद छूटे होते। बाबा महाराज ने तिलक को जो वसीयत लिखकर दी उसका विशेष भाग यह था—

"इस समय मेरी पत्नी गर्भवती है। यदि उसके पुत्र पैदा न हुआ अथवा यदि वह पुत्र उत्पन्न होकर शीघ्र मर जाता है तो मेरे घराने का नाम चलाने के लिये एक पुत्र शास्त्र के अनुसार गोद रख दिया जाय और जब तक कि वह लड़का बालिग नहीं होता पंच मेरी ज़मीन-जायदाद की देख भाल करें।"

१८ जनवरी १८९८ को विधवा के एक पुत्र हुआ जो दे. महीने बाद मर गया। तिलक विधवा ताई महाराज की ज़मीदारी की देख रेख करने लगे। ज़मीदारी पर ऋण होने के कारण उन्होंने कुछ लोगों को निकाल दिया। पर उस युवा

विधवा को यह असह्य था। वह अपने को उस जायदाद का मालिक समझती थी और यह नहीं देख सकती थी कि कोई गोद रक्खा पुत्र उसकी जायदाद का मालिक बन बैठे। बहुत से कारिन्दे उसके मुँह लगे थे जो उसके काफी निकट आचुके थे।

२७ जून १९१० को एक जगन्नाथ लड़का पसंद किया गया। शास्त्रियों की तथा अन्य लोगों की एक मीटिंग औरंगाबाद में हुई। लड़के के पिता और विधवा में बातचीत हुई और उसने अपने पुत्र को गोद लेने की आज्ञा देदी। यह बात सबको बतादी गई और कागजात तैयार किये गये। २८ तारीख को फिर एक मीटिंग हुई और बालक माँ की गोद में बैठा दिया गया। बाकी उत्सव पूना में फिर होने का निश्चय हुआ।

तिलक केसरी में लिखते हैं—

"कहावत है कि हर झुंड में एक काली भेड़ होती है। पूना नगर में जो कि सभ्यता के केन्द्र के नाते प्रसिद्ध है ऐसे षडयंत्र-कारी व्यक्तियों की कमी नहीं। ... जब तक नागपूरकर का दिमाग नहीं फिरा था उन्होंने पूरी चेष्टा इस बात की की कि ताई महाराज इन नीच व्यक्तियों के बहकाने से बची रहें। पर एक समय आया कि वह भी उनमें मिल गये और अपने मृतक स्वामी को धोखा देने लगे।"

२९ जून १९०१ को ताई महाराज ने प्रोबेट को, जो तिलक को दी गई थी, रद्द करने की अर्जी दी। एस्टन के पास मुक़दमा गया। एक दो दिन नहीं, पूरे १४ दिन

तक तिलक को उल्टे सीधे प्रश्नों से घेरा जाने लगा। तिलक ने आपत्ति की। कानून के तोड़े जाने का इशारा किया। पर कौन सुनता था उनकी। एस्टन ने प्रोबेट को रद्द कर दिया, औरंगाबाद के गोद रक्खे लड़के को नामंजूर कर दिया और तिलक को अदालत में भेज दिया जिससे कानून के अनुसार कार्यवाही की जाये। तिलक के विरुद्ध ७ आरोप बनाये गये :—

(१) नागपुर के विरुद्ध विश्वासघात करना।

(२) औरंगाबाद के दौरे के कागज़ों में हेर फेर करना।

(३) झूठे हस्ताक्षर करना।

(४) झूठे सबूत को जान बूझकर सच्चा साबित करना।

(५) झूठे कागज़ात को असली साबित करना।

(६) ताई महाराज के झूठे हस्ताक्षर बनाना।

(७) जान बूझ कर झूठी गवाही देना।

४ अप्रैल १९०२ को तिलक सिटी मैजिस्ट्रेट की अदालत में पेश किये गये। तिलक को यह दिन भी देखना था। षड़यंत्रकारी सरकार ने संसार के सामने तिलक की कैसी तस्वीर उतारी थी। वह झूठे थे, बेईमान थे, धोखेबाज़ थे, नीच थे आदि। तिलक महान जैसे व्यक्ति के लिये इससे कठोर और काला दिन कोई न आया होगा। अपने अन्दर आत्म विश्वास के बल पर ही वह इस नीच मंत्रणा को पार कर सके।

इसी बीच में तिलक ने हाईकोर्ट में अर्ज़ी दी कि उनका मुकदमा एस्टन की इजलास से हटा दिया जाय। हाईकोर्ट ने

यह बात नहीं मानी। बाद में अपील हुई और इसी हाईकोर्ट ने एस्टन के फैसले को रद्द कर दिया। इस तरह तिलक और उनके साथी ट्रस्टी बन गये।

१५ सितम्बर १६०२ को सातों आरोपों पर अभियोग आरम्भ हुआ। २४ अगस्त १६०३ को उन्हें १८ महीने की कड़ी क़ैद और एक हज़ार रुपया जुर्माना सुनाया गया।

६ मार्च १६०४ का 'मराठा' लिखता है—

"क्लीमैन्ट ने पुलिस के लिये एक वारंट तैयार कर रक्खा था। स्वयं उन्होंने पुलिस के मामले में हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया। यह सब इस लिये था कि तिलक को इतना समय न मिले कि वह अपने वकीलों को उसी स्थान पर अपील आदि करने की कोई राय दे सकें। पर तिलक को इस सब की आशा थी, इस लिये अपील की अर्ज़ी पहले से ही घर पर तैयार कर ली थी। निर्णय सुनाते ही तिलक तुरंत जेल ले जाये गये। सैशन्स जज ने अपील मंजूर करते समय और तिलक की ज़मानत पर छोड़ने की आज्ञा देते हुए इस जल्दबाज़ी पर अपना आश्चर्य और क्रोध प्रकट किया।"

सरकार का कौन सा कदम कब उठेगा यह तिलक ख़ूब जानते थे। सरकार की गति को देख कर वह अपनी गति को मंद या तीव्र कर देते थे। यह ऊपर के मराठा के उद्धरण से स्पष्ट है।

जज लूकाज़ ने अपने फ़ैसले में सज़ा कुछ कम की पर जेल की आज्ञा वही रक्खी। ४ जनवरी १६०४ को पुलिस तिलक को

हथकड़ी डाल कर यरवदा जेल ले गई। चार दिन बाद हाईकोर्ट की आज्ञा से वह ८ जनवरी १६०४ को छोड़ दिये गये। तिलक के हथकड़ी पड़ी यह सूचना आग की तरह फैल गई। कलकत्ते का एक दैनिक लिखता है—

"हम यह लज्जा जनक और आश्चर्य जनक सूचना सुनने को कभी तैयार न थे जो हमें कल मिली है।......हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ यह कहते हैं कि जिन लोगों ने यह कार्य कराया है, उन्हें शर्म आनी चाहिये। तिलक के हथकड़ी डालने की क्या आवश्यकता पड़ गई? क्या सरकार डरती थी कि वह भाग न जांय?? ऐसा कुछ भी नहीं था। जैसा कि कुछ लोग कह सकते हैं यह कुछ सरकारी अफसरों के द्वेष को पूरा करने को किया गया था, जो कायरों के समान गिरे हुए मनुष्य के ऊपर चलने में बड़े प्रसन्न होते हैं। हमें आश्चर्य है और हमें बहुत आश्चर्य है कि बम्बई का राज्यपाल जेब में हाथ डालकर क्यों खड़ा रहा जबकि उसके प्रान्त में ऐसे कार्य हो रहे हैं।"

२४ फरवरी १६०४ को दुबारा की हुई अपील की सुनवाई हाईकोर्ट में हुई। ३ मार्च १६०४ को फैसला सुनाया गया। जज जैन्किन्स ने तिलक की जेल का फैसला रद्द कर दिया और जुर्माना वापस करने की आज्ञा कर दी। एडवोकेट जनरल ने बाकी ५ आरोप चुपचाप वापस ले लिये।

फौजदारी का यह मुकदमा समाप्त होने पर स्थगित किया हुआ सिविल मुकदमा चला। इसमें तिलक को गवाही के लिए

औरंगाबाद, अमरौती, कोल्हापुर आदि स्थानों में जाना पड़ा। महीनों खराब हुए। सब जज ने ३१ जुलाई १६०६ को अपना निर्णय सुनाया। यह तिलक के अनुकूल था।

पर सरकार तिलक को परेशान रखना चाहती थी। प्रतिपक्षी ने ३ अक्टूबर १६०६ को हाईकोर्ट में अपील की। बम्बई हाईकोर्ट ने १६१० में तिलक के विरुद्ध निर्णय किया। अब तिलक की बारी थी। १६११ में उन्होंने प्रिवी कौंसिल में अपील की। २६ मार्च १६१५ को प्रिवी कौंसिल ने हाईकोर्ट का निर्णय उलट दिया। १ फरवरी १६१७ को जगन्नाथ महाराज को तिलक की कृपा से जायदाद मिलगई।

इस तरह १८६७ का चला हुआ मुकदमा १६१७ को पूरी तरह से समाप्त हुआ। अकेले इस एक मुकद्दमे से ही तिलक का अदम्य साहस निखर उठता है।

सरकार तिलक से डरती थी इस लिए इस पूना के ब्राह्मण के विरुद्ध ताई महाराज के अभियोग को उभारकर उसने अपनी राजनैतिक हवस मिटानी चाही। सच पूछिए तो भगवान ने ही इन राक्षसों से तिलक को उभारा। इस लिये इस अभियोग के बाद तिलक की भगवान में श्रद्धा और भी अधिक दृढ़ हो गई। अब तिलक की राजनीति में अध्यात्म का पुट आगया था।

राष्ट्रीयता का उदय

कांग्रेस नेता अपना दायित्त्व भूल गये थे। उनके स्वभाव में नर्मी आ गई थी, शिथिलता आ गई थी। कांग्रेस एक दूसरे की प्रशंसा करने की संस्था बन गई थी। अपने प्रस्तावों में वह पुरानी लकीर पीट रही थी। यह प्रस्ताव न तो प्रगतिशील थे न क्रियाशील। चंदवारकर जैसे लोग सभापति चुने जाने लगे। क्यों? क्योंकि वह सरकार के कृपापात्र थे। क्योंकि वह हाई-कोर्ट के जज होने वाले थे।

कांग्रेस की यह दशा देखकर कांग्रेस के पिता ह्यूम ने उन्हें झकझोरा, और कहा—

"आप लोग कांग्रेस में मिलते हैं, आप पल भर के जोश में गिरे पड़ते हैं। आप लोग अच्छा बोलते हैं और बहुत बोलते हैं। पर जब कांग्रेस समाप्त हो जाती है तब आप लोग अपने अपने धन्धों पर चले जाते हैं। वर्षों पहले मैंने आपसे कहा था उठिये और कार्य कीजिये। वर्षों पहले मैंने चेतावनी दी थी कि राष्ट्र अपने आप बनते हैं—क्या आपने मेरी बात पर कान दिया?"

१९०४ तक तिलक एक प्रान्तीय नेता थे। बंग-विच्छेद पर ही वह सम्पूर्ण भारत में पूजे जाने लगे। यह बंग विच्छेद १९०५ में हुआ। यह लार्ड कर्जन के हाथों हुआ। पूरे प्रान्त में त्राहि त्राहि मच गई। बंगाल के टुकड़े हो गये। पार्लियामेन्ट के पास

अपील की गई। बायकट आरम्भ हुआ। इस से स्वदेशी के आंदोलन को स्फूर्ति मिली। स्वदेशी आंदोलन जो आरम्भ मे आर्थिक और राजनैतिक समस्या को लेकर चला था, राष्ट्रीयता का, नवीन चेतना का आंदोलन बन गया। राष्ट्र ने देशवासियों से स्वदेशी की मांग की। वस्त्रों में, खान-पान में, आचरण मे, जीवन में, कला में, साहित्य में, विज्ञान में और धर्म में यहाँ तक कि सभी वस्तुओं में, सभी दिशाओं में स्वदेशी की होड़ सी लग गई। भारत सरकार जो पाश्चात्य सभ्यता की प्रतिनिधि थी—उसके और उसकी सभ्यता के विरुद्ध यह आंदोलन आरम्भ हो गया। बायकाट सत्याग्रह में परिणित हो गया। युवक सैकड़ों की संख्या में इस शान्ति के आन्दोलन में भाग लेने को अग्रसर हुए। सरकार ने नई नई आज्ञाओं से अपनी दमन नीति आरम्भ की। लोगों ने राष्ट्रीय शिक्षा मिलने की आवाज़ उठाई। चंदा इकट्ठा होने लगा। बात की बात में लाखों रुपये बरस पड़े। बंगाल के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इन सब कार्यों से सरकार बौखला पड़ी। राष्ट्र के नेताओं का आम जनता के सामने अपमान किया गया। अत्याचार पर अत्याचार होने लगा। सन् १८१८ का 'देश निकाला कानून' बहुत बड़ी तोप समझ कर फिर से बाहर निकाला गया। १६०७ में लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को मंडला भेज दिया गया।

बंगाल के टुकड़े होने से राष्ट्रीयता की भिन्न भिन्न धाराएं

मिलकर एक हो गईं। भारत के नेता एकता की ओर बढ़े। प्रान्तों के अलग अलग दल एकता की ओर बढ़े। तिलक बंगाल की ओर बढ़े। उन्होंने कहा कि यद्यपि इस विषय पर सरकार अपने कान बन्द किये हुए है, यद्यपि इस विषय पर सरकार से लोहा लेने में हमारी पराजय ही होनी है पर हमारा संघर्ष करना, अपनी आवाज़ ऊँची करना—इतना क्या कम है। ज़मीन पर तैरना सीखने के वे विरुद्ध थे। यदि हमें तैरना है तो पानी में उतरना ही पड़ेगा, सरकार को सही रास्ते पर लाना है तो उस से संघर्ष तो अनिवार्य है।

बंग-विच्छेद का विरोध करते ही तिलक प्रान्तीय वातावरण से निकल कर भारतीय वातावरण में आगये। वह नवजात राष्ट्रीय पार्टी के नेता हो गये। बंगाल के आन्दोलन से, लार्ड कर्ज़न की ध्वंसात्मक नीति से, सरकार के आतंक से तिलक को अवसर मिला कि वह लोगों की राष्ट्रीय उमंगों को एक रूप दे सकें।

ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों का पक्ष लेना आरम्भ किया। एक बड़े अफसर ने कहा—"दो बेगमों में से मुस्लिम बेगम प्यारी है।"

महाराष्ट्र के कोने कोने में तिलक ने स्वदेशी और स्वराज्य का मन्त्र फूँक दिया। महाराष्ट्र में उन्होंने सैकड़ों व्यक्तियों को संगठन और आंदोलन में पक्का कर दिया। महाराष्ट्र में उनके सैकड़ों विद्यार्थियों ने उनके सम्पर्क में आकर जो कुछ सीखा था

वे सब अपने गुरुदेव को गुरुदक्षिणा देने को तैयार थे। महाराष्ट्र में उनका संगठन इतना अच्छा था कि उनके स्वदेशी और बायकाट का नारा लगाते ही पूरा देश इस नारे की ध्वनि से गूँज उठा। महाराष्ट्र में कोई ऐसा नगर न था, कोई ऐसा गाँव न था जहाँ कि स्वदेशी की सभा न हुई हो।

पर अभी बहुत काम बाकी था। पंजाब, बंगाल और मद्रास के आंदोलन को एक सूत्र में बाँधना था। सभी नेताओं ने एक होकर तिलक का नेतृत्व माना। विपिन चन्द्र पाल, अरविंद घोष, लाला लाजपतराय, खापर्डे और सुब्रमन्य अयैर—सभी ने तिलक का नेतृत्व स्वीकार किया। अपनी पार्टी का संगठन अब तिलक को नरमदल वालों के मुकाबले में करना था। नरमदल के नेता बड़े प्रभावशाली थे। कांग्रेस में तिलक ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो बम्बई के शेर फीरोज़शाह मेहता के ऊपर अपना हाथ रख सकते थे।

बंगाल का आंदोलन सही मानों में एक राष्ट्रीय आंदोलन हो गया। कितने ही स्वदेशी कारोबार चल निकले। स्वदेशी की दुकानें खुलीं। स्वदेशी प्रदर्शनी होने लगी। पैसा फंड जो काले ने आरम्भ किया था वह तिलक का सहयोग पाकर एक ज़बरदस्त फंड हो गया। चरखा कातना, कपड़ा बिनना शुरू हो गया। लोगों का नारा हो गया।—"आत्म-निर्भरता भीख माँगना नहीं है।" लोगों की आत्मा जाग उठी। अब वह अपमान सहने को तैयार न थे। जो देश अभी तक छिन्न-भिन्न पड़ा था उसे राष्ट्रीयता का

अर्थ समझ में आने लगा।

दलित जातियाँ, अछूत, निम्न श्रेणी के लोग भी इस आंदोलन के साथ थे। दो बार उन्होंने तिलक को पान-सुपारी भी दी थीं। तिलक ने कितनी बार कहा कि सब लोग बराबर है, जात-पांत का भेद वेदोचित नहीं है। उनकी सभाओं में लाखों की संख्या में लोग आते थे। कवियों ने राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं। एक राष्ट्रीय साहित्य का जन्म हुआ।

एक बार रानडे ने कहा था कि हमारे प्रार्थना पत्र यद्यपि सरकार के लिये होते हैं फिर भी वह लोगों में जागृति लाने के लिये भी होते हैं। राष्ट्रीय पार्टी इस विचार से भी एक कदम आगे बढ़ गई। उसने कहा कि हमारे सभी लेख और भाषण हमारी जनता के लिये हैं। हाँ यदि सरकार भी चाहे तो उन्हें देख सकती है।

उन अत्याचारों को धन्यवाद है जिनसे बंगाल के क्रान्तिकारी दल को जनता का सहयोग मिला। इन क्रान्तिकारियों के अड्डे शहरों और गावों में थे। इन क्रान्ति के दूतों को गीता का पाठ पढ़ाया गया। इनके हृदय में स्वामी विवेकानन्द के विचार भरे गये, मज्जानी और गैरीबाल्डी के जीवन की झांकी दिखाई गई और बम आदि शस्त्रों का प्रयोग सिखाया गया। यह क्रान्तिकारी दल रूस और इटली के खुफिया दल के नमूने पर बनाये गये।

खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चन्द्र ने मुज्जफरपुर के जज किंग्सफोर्ड का खून करने की चेष्टा की पर उनकी अपेक्षा दो भोली

अंग्रेज औरतें उन का शिकार हो गईं। खुदीराम पकड़े गये और उन्हें फांसी दी गई। क्रान्तिकारी इस बलि को शान्ति पूर्वक न देख सके।

गुसांई, जो अंग्रेज़ों से मिल गया था, उसे जेल में गोली से मार दिया गया। दो महीने बाद वे दरोगाजी जिन्होंने खुदीराम को पकड़ा था, खत्म कर दिये गये। फरवरी १६०६ में सरकारी वकील को, जब वह हाईकोर्ट से जा रहे थे, खत्म कर दिया गया। यह सब क्रान्तिकारियों के संगठन का, उन की वीरता का द्योतक था।

लाल-बाल-पाल के नेतृत्व में युवकों ने विद्रोह का झण्डा ऊँचा उठाया। उन्होंने एक अलौकिक विजय इस लिये प्राप्त की क्योंकि वह विलायत की राजसभा को प्रार्थना पत्र भेजने वाली नीति को भिखारियों की नीति कहने लगे।

नरमदल और गरमदल के आदर्शों में अधिक भेद न था। नरमदल का भारत सरकार के ऊपर से अभी, विश्वास उठा न था। उनके पास इतना साहस न था कि जो प्रस्ताव वह रखते थे उनको पाने के लिये वह आगे बढ़ सकें, लड़ सकें। यदि एक ओर भारत सरकार की अपरिमित शक्ति से उनके हृदय में डर बैठ गया था तो दूसरी ओर भारतवासियों की कमज़ोरी से भी वे डरते थे। तिलक इसके विपरीत सोचते थे। उन्होंने कहा—

"हम राजनीति में, परोपकार में विश्वास नहीं करते। इतिहास में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जिसमें कि एक

विदेशी राज्य दूसरे राज्य पर शासन लाभ के लिए नहीं कर रहा।

"गोखले त्याग में विश्वास करते हैं। वह लोगों से कहते हैं कि वह उठे और कार्य करें। वह मानते हैं कि यहाँ के शासक पाषाण हृदय हैं और ब्रिटेन में लोकतन्त्र लापरवाह है। वह मानते हैं कि हमारे प्रयत्नों का अभी कुछ फल नहीं निकला। उनका कथन है कि इस समय परिस्थिति चिन्ता जनक है। इन सब विचारों में वह इस नवीन पार्टी के साथ हैं। पर जब कुछ करने की बात आती है तो वह कहते हैं—'मेरे मित्रों, हमें अभी थोड़ी और प्रतीक्षा करनी चाहिये। सरकार की अवज्ञा करने से कोई लाभ नहीं। वह हमें दबा देगी।' इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि गोखले सिद्धान्त में नई पार्टी के साथ हैं और व्यवहार में पुरानी के साथ।"

नरम दल वालों में एक बड़ी कमी यह थी कि वह कुछ निर्जीव नारों से चिपके रहते थे। इनमें से एक था—वैधानिक अधिकार। तिलक ने नरम दल से पूछा कि वह बतायें कि क्या भारत का कोई विधान भी है—

"क्या हम अपने साधारण अधिकारों को छिन जाने से रोक सकते हैं? क्या हम इन अधिकारों के छीने जाने पर सरकार को दंड दे सकते हैं?? यदि हमारे पास कोई विधान है तो वह केवल एक है—पीनल कोड।"

तिलक ने कहा—"साधारण तौर से हमारा आन्दोलन कानून

के अन्तर्गत होगा फिर भी यह सरकार के हाथ में है कि उसे कानूनी या ग़ैर कानूनी ठहरावे। आज जो आंदोलन कानून के अन्तर्गत है सरकार उसे एक क़लम की नोक से ग़ैर कानूनी कर सकती है। यह अवश्य है कि हम लोगों का लूट-मार, डाका और विद्रोह आदि से कुछ भी संबन्ध न होगा पर इस सीमा के अतिरिक्त और कोई सीमा नहीं है जो हम अपने प्रयत्नों पर रख सकें। हमारा आंदोलन वैधानिक नहीं हो सकता कारण हमारा कोई वधान नहीं है। हमारा आंदोलन पूर्णतः कानून के अन्तर्गत भी नहीं हो सकता कारण कानून बनाना उनके हाथ में है जिनसे हमारा विरोध है। इस लिये न्याय, नैतिकता और इतिहास ही हमारे पथ-प्रदर्शक बने रहेंगे।"

कुछ लोगों का कहना है कि यदि तिलक एक असाधारण वक्ता होते तो वह नरमदल वालों का बहुत पहले ही अन्त कर चुके होते। मै इस कथन से सहमत नहीं हूँ। माना कि तिलक एक महान वक्ता न थे परन्तु वह प्रभावशाली अवश्य थे। यदि वह एक महान वक्ता भी होते तो भी नरमदल का अन्त बहुत पहले न कर पाते। कोई भी परम्परा किसी के अच्छे वक्ता होने से ही समाप्त नहीं हो जाती। एक परम्परा के बनने-बिगड़ने में दशाब्दियाँ लग जाती हैं। किसी शक्ति का ह्रास अनायास नहीं हो जाता—उस में भी समय लगता है। और बहुत काफ़ी समय लगता है। और फिर 'अच्छे वक्ता' या 'अच्छी वकत्ता' की भी अनेक परिभाषा हैं। लार्ड मौर्ले लिखते हैं—"राजनैतिक वक्ता

केवल शब्दों में नहीं होती, क्रिया में होती है। कार्य करने की क्षमता, चरित्र, इच्छा, दृढ़ता, ध्येय और व्यक्तित्व में होती है।"

तिलक के पास शब्द कम थे पर उनके पास चरित्र और व्यक्तित्व की कमी न थी।

तिलक ने उन लोगों के कार्य का निषेध किया जिन्होंने एक विद्यार्थी पर स्वदेशी मीटिंग में आने के कारण अनुशासन के नाम पर जुर्माना कर दिया था। उन्होंने कहा कि ऐसे झूठे अनुशासन से हमें या तो सरकारी अनुदान मिल जाता है या एक कालेज विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कर दिया जाता है। उन्होंने लोगों को झकझोरा और पूछा कि वह देशभक्ति और त्याग के नाम पर क्यों न इन जंजीरों को तोड़ डालें और अपनी शिक्षा प्रणाली को स्वतंत्र घोषित कर दें।

१६०५ का विद्यार्थी आंदोलन अपने समय की एक ही चीज़ थी। १६४२ का विद्यार्थी आंदोलन भी उसी तिलक-परंपरा की एक छूट थी। १६०५ में बंगाल में जहाँ विद्यार्थियों पर अत्याचार किये जा रहे थे, राष्ट्रीय शिक्षा का आंदोलन मानो इन अत्याचार की प्रतिक्रिया के रूप में अपने आप फैल गया। एक वर्ष के अन्दर दस हजार विद्यार्थियों ने राष्ट्रीय स्कूल और कालेज में नरम दल के नेता डा० रस बिहारी घोष और सर गुरुदास बनर्जी के संरक्षण में अपने नाम लिखाये।

तिलक को मुसलमानों पर गर्व था। उन्हें विश्वास था कि इस

जाति का जिस के तौर तरीके शाही हैं भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। उन्हें विश्वास था कि हिन्दुओं के मस्तिष्क से और मुसलमानों के पौरुष से और पारसियों के साहस से साम्राज्यवाद का अन्त अवश्य हो जायगा। वह मुसलमानों की अक्रियता से अधिक डरते थे न कि उनके विरोध से। इस लिये जब नवाब सलीमउल्ला खाँ ने १९०६ की ढाका की शिक्षा सभा को अंतिम समय पर एक राजनैतिक पार्टी बना दिया तो तिलक परेशान न हुए, प्रसन्न हुए। इस पार्टी ने, इस मुस्लिम पार्टी ने बायकाट और स्वदेशी आंदोलन के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई तथा बंगाल के विभाजन का स्वागत किया। तिलक ने यह भविष्यवाणी की थी कि मुसलमान एक बार अपनी नींद से उठ बैठे फिर तो वह अपने राजनैतिक मांगों में हिन्दुओं से कहीं आगे बढ़ जायगा।

सर फीरोज़शाह मेहता कांग्रेस में अपनी निषेधात्मक तथा अक्रियात्मक नीति को चला रहे थे। तिलक ने निश्चय कर लिया था कि वह कांग्रेस को एक बन्द सरोवर न रहने देंगे वरन उसे बहता हुआ स्रोत बनायेंगे जिसमें उफान हो, जोश हो, गति हो।

१९०५ की बनारस की कांग्रेस में तिलक को बहुत कुछ मिला यद्यपि सब कुछ नहीं। कांग्रेस के नादिरशाह फीरोज़शाह मेहता इस कांग्रेस में नहीं आये थे। गोखले ने स्वदेशी और बायकाट आंदोलन का समर्थन किया। लोगों को गोखले की इस स्पीच पर आश्चर्य हुआ। उन्होंने लार्ड कर्ज़न की औरंगज़ेब से तुलना

की। तिलक स्वदेशी और बायकाट पर अलग प्रस्ताव लाना चाहते थे। पर अभी नरम दल वाले बायकाट को बंगाल तक रखना चाहते थे, उसे हर प्रान्त में लाने से डर रहे थे। पर तिलक निराश नहीं हुए। वह सोच रहे थे—इस कांग्रेस ने बायकाट का समर्थन तो किया, बाकी कार्य दूसरी कांग्रेस से करायेंगे।

गोखले दो बार सन् १६०५ और १६०६ में विलायत चुन कर भेजे गये थे। इस के पूर्व वह सन् १८६७ में भी विलायत हो आये थे। वह सरकार और जनता के बीच मध्यस्थ थे। उन के यह शब्द भारत के कोने कोने में गूँज उठे—

"आज ५ गाँवों में ४ गाँव बिना स्कूल के हैं और ८ बालकों में ७ बालक गरीबी और अज्ञान में पल रहे हैं।"

सन् १६०५ में भी तिलक देवता की तरह पूजे जाते थे। उनके मित्र खापर्डे की डायरी में २६ दिसम्बर १६०५ के बनारस में लिखे यह शब्द मिलते हैं—

"तिलक मेरे पास एक कमरे में ठहरे हैं। सैकड़ों आदमी उन्हें देखने आते हैं। वह उन्हें एक देवता की तरह पूजते हैं और वह इसके योग्य हैं।"

१६०६ की जून में तिलक शिवाजी उत्सव के संबन्ध में कलकत्ता गये थे। उसी समय विपिनचन्द्र पाल ने यह प्रस्ताव रक्खा कि तिलक कलकत्ते की कांग्रेस के सभापति हों। यह पहला अवसर था कि तिलक का नाम गंभीरता पूर्वक सोचा

गया था। पाल ने तिलक के सभापति बनाने के विषय में पूरी तौर से प्रयत्न करना आरंभ कर दिया। नरमदल घबरा गया। उन्हें डर लगा। सर फीरोज़शाह मेहता अपना मस्तिष्क कुरेदने लगे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने फीरोज़शाह मेहता को पूरा सहयोग देने का वचन दिया। अंत में एक बड़ी चाल चली गई। एक तार दादाभाई नौरोजी के पास विलायत भेजा गया। उस में लिखा गया कि कांग्रेस खतरे में है। क्या इस समय दादाभाई भारत आकर कांग्रेस के सभापति न होंगे? यह तार भूपेन्द्र नाथ बनर्जी ने, जो सुरेन्द्र बाबू के दाहिने हाथ थे, भेजा था। बिना स्वागत समिति से पूछे, बिना अपने साथियों से पूछे यह कदम उठाया गया क्योंकि सुरेन्द्र बाबू को दादाभाई की सज्जनता और उनकी कांग्रेस के प्रति श्रद्धा में विश्वास था। दादाभाई ने कांग्रेस को खतरे में जानकर तत्काल ही उत्तर दिया कि वह भारत आ रहे हैं। इस तरह गरमदल वाले देखते रह गये क्योंकि सभी जानते थे कि दादाभाई के मुक़ाबले में कोई न खड़ा होगा।

यदि इस समय तिलक सभापति चुन लिये गये होते तो जो कार्य उन्होंने १६१७ की कलकत्ता कांग्रेस से कराया था वह ११ वर्ष पहले हो गया होता। कांग्रेस उस समय ११ वर्ष पीछे न रही होती।

सन् १६०६ में जब दादाभाई ने कलकत्ता कांग्रेस में सभापति का आसन ग्रहण किया तो १६ अक्टूबर १६०५ का बंग-विच्छेद एक नवीन स्फूर्ति को जन्म दे चुका था। इधर

पूर्वी बंगाल क्रोध से दाँत पीस रहा था, उधर हिन्दू-मुसलमानों के दंगे की दबी हुई आग प्रज्वलित की जा रही थी। काले कानून के कारनामे देखने में आ रहे थे। सेना और पुलिस द्वारा शान्ति कायम की जा रही थी। जैसा कि डा० रस बिहारी घोष ने कहा—"बारीसल की प्रान्तीय सभा पुलिस द्वारा भंग की गई और यह शान्ति इस लिये भंग की गई कि शान्ति रक्खी जा सके।"

दादाभाई ने बतलाया कि केवल सेना पर सरकार का खर्च १७ करोड़ से बढ़ कर ३२ करोड़ हो गया है जिसमें ७ करोड़ अकेला विलायत में व्यय होता है। अंग्रेज़ सैनिक का वेतन इतना बढ़ा चढ़ा रक्खा था कि ब्रिटिश सरकार जितना अपना हिस्सा देती थी उस का तिगुना भारत से ले लेती थी।

पर अभी बड़ा प्रश्न बाकी था। क्या कांग्रेस की नीति बदलेगी? खापर्डे ने तिलक की राय से सभी कांग्रेस नेताओं को १९०६ में यह पत्र भेजा कि कांग्रेस की नीति में हेर-फेर की बहुत आवश्यकता है। इस पत्र की सूचना पा ऐंग्लो इंडियन पत्र घबरा गये कि काँग्रेस गरमदल वालों के पास जा रही है। उन्होंने समाचार पत्रों में गोखले आदि से अपील की कि वह गरमदल की बातों में न आयें। यह वही ऐंग्लो इंडियन पत्र थे जिन्होंने सन् १९०४ तक गोखले को खूब गालियाँ दी थीं।

तिलक ने केसरी में खापर्डे के इस पत्र की चर्चा करते हुए लिखा—"हम लोगों से प्रायः कहा जाता है कि हम निराश न हों।

यदि नरमदल यही समझता है कि हम लोग जल्द निराश हो जाते हैं और हम में दृढ़ता की कमी है तो यह उनकी सरासर भूल है।...... यह नहीं कि हमारा वैधानिक आंदोलन में विश्वास नहीं है। हम ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेकना नहीं चाहते। राजनैतिक अधिकार के लिये हमें लड़ना पड़ेगा। नरमदल का विचार है कि यह हक खुशामद करने से मिल जायगा। हम समझते हैं कि यह अधिकार केवल अत्यधिक दबाव डालने पर ही मिल सकता है। क्या कांग्रेस इस बात की चेष्टा करेगी कि यह दबाव डाला जाय? यही प्रश्न है। और यदि यह दबाव डालना है तो कांग्रेस अपनी इस अवकाश प्राप्त वृत्ति को छोड़ दे और एक ऐसी संस्था में विकसित हो जो निरंतर पूरी शक्ति से कार्य करती रहे।"

(११-१२-१९०६ के 'केसरी' से)

पूरा भारतवर्ष उत्सुकता से देख रहा था कि कलकत्ता कांग्रेस इस प्रश्न का क्या उत्तर देती है। सभापति के भाषण का मुख्य विषय था स्वराज्य। इस भाषण से ऐंग्लो इन्डियन निराश हो गये। तिलक ने पाल की सहायता से नई पार्टी की एक विशेष मीटिंग की जिसमें यह निश्चय करना था कि कांग्रेस किस किस विषय को उठाये। यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस स्वदेशी, बायकाट और राष्ट्रीय शिक्षा पर अलग अलग प्रस्ताव पास करे।

राष्ट्रीय शिक्षा का प्रस्ताव पास हो गया पर स्वदेशी और

बायकाट पर विवाद होते समय तूफान खड़ा हो गया। तिलक बायकाट को कांग्रेस का सब से बड़ा नारा बनाना चाहते थे। फ़ीरोज़शाह मेहता जैसे महारथी से भिड़ने के बाद तिलक ने यह शब्द कहे—

"बायकाट आंदोलन न्यायोचित था और है।"

बनारस की कांग्रेस में केवल ब्रिटिश वस्तुओं का बायकाट था। पर अब कलकत्ते की कांग्रेस में बायकाट का कुछ और अर्थ था। और यह था राजनैतिक बायकाट। सच पूछिये तो गंगा के माहात्म्य की तरह स्वदेशी के अनेक अर्थ थे। सब के लिये अलग अलग अर्थ थे। मालवीय के लिये इस का अर्थ था राष्ट्र के उद्योग धंधों को बचाना तिलक के लिये इस का अर्थ था अपने पैरों पर खड़े होना, राष्ट्र का विदेशी वस्तुओं का पूर्ण रूप से परित्याग करना और मध्य वर्गीय जनता को शोषण से बचाना। लालाजी के लिये इस का अर्थ था अपनी पूंजी को रोकना। ८० वर्ष के बूढ़े दादाभाई ने शिक्षा और आर्थिक सुधार पर ज़ोर दिया।

इस तरह कलकत्ता कांग्रेस ने तिलक के तीनों विषय बायकाट, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा पर तीन अलग प्रस्ताव पास किये।

पूरी कांग्रेस में अकेले तिलक ही एक ऐसे थे जो जानते थे कि विदेशी सरकार से हम कितनी माँग कब करें जिसे देने को ब्रिटिश सरकार बाध्य हो जाय।

१९१८ में तिलक ने भारत की कौन कहे विलायत तक में जाकर

होम रूल और स्वाधीनता की मांग की। वह समय को जानते थे, उसकी गति को पहिचानते थे। इस समय की गति को अंग्रेज़ भी जानते थे पर कहने में डरते थे कि कहीं भारतवासी सुन न लें। हाँ आपस में वह एक दूसरे से इस बदलते हुए समय की चर्चा करते रहते थे। जून १६०६ में सैक्रेटरी ऑफ स्टेट लार्ड मौर्ले ने यहाँ के वायसराय लार्ड मिन्टो को लिखा था—

"प्रत्येक मनुष्य यही चेतावनी देता है कि एक नई चेतना शक्ति भारत में उठ गई है और फैल रही है—तुम उसी पुराने ढंग पर अब शासन नहीं कर सकते हो। तुम्हें कांग्रेस पार्टी और कांग्रेस के सिद्धान्तों से जूझना है चाहे तुम उस के बारे में कुछ भी क्यों न सोचो। यह निश्चय समझो कि कुछ ही दिनों में मुसलमान तुम्हारे विरुद्ध कांग्रेस से मिल जायेंगे।"

तिलक कितने महान राजनीतिज्ञ थे यह तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने जो जो बातें जैसे जैसे सोचीं आज कागज़ों के मिलान करने पर हम देखते हैं कि ब्रिटिश सरकार भी उनको वैसे ही सोचती थी और वह घटनाएं तिलक के कथनानुसार उसी क्रम से ठीक उसी प्रकार होती जाती थीं। तिलक ने भविष्यवाणी की थी कि मुस्लिम लीग बनने दो, मुसलमान अपने आप कांग्रेस के साथ मिल जायेंगे। यह बात लार्ड मौर्ले ने सोची और यही बात हुई भी क्योंकि लखनऊ कांग्रेस में १६१६ में मुसलमान हिन्दुओं से मिल गये।

सूरत कांग्रेस

सूरत की प्रान्तीय सभा में फ़ीरोज़शाह मेहता ने तिलक की अनुपस्थिति से लाभ उठा कर गरमदल वालों को डरा कर बायकाट तथा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्तावों को ऊपर नहीं आने दिया।

नरमदल वाले गरमदल को अकेले नागपुर में कांग्रेस अधिवेशन नहीं करने देना चाहते थे। वह स्वयं अधिवेशन करने में या तो असमर्थ थे या अधिवेशन करने से डरते थे। इस लिये उन्होंने एक सीधा पर कुत्सित मार्ग अपनाया। उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को सूचना भेजी कि वह अधिवेशन नागपुर में नहीं कर सकते।

१० नवम्बर १९०७ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक मीटिंग बम्बई में हुई और तिलक और खापर्डे के आपत्ति करने पर भी कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में होना निश्चय हुआ।

१ नवम्बर १९०७ को लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह एकाएक छोड़ दिये गये। इस से कांग्रेस में एक खलबली सी मच गई। अनायास यह सुन पड़ा कि लाला लाजपतराय को सभापति क्यों न बनाया जाय? सूरत में २१ नवम्बर १९०७ को स्वागत समिति बनी। महाराष्ट्र से अधिक सदस्य न आ सकें इसलिये यह घोषणा हुई कि सभापति का चुनाव तीन दिन बाद २४ नवम्बर को होगा। फिर भी वहाँ जो

थोड़े से गरमदल वाले थे उन्होंने लाला लाजपतराय का नाम सभापति के लिये उठाया। गोखले ने हर तरह से इन थोड़े लोगों को समझाया कि वह लालाजी का नाम वापस लेलें, पर जब वह राजी न हुए तो उन्होंने चुनौती दी कि इतने नरमदल वालों के बीच यदि वह लालाजी को सभापति बना सकते हैं तो बनायें। गरमदल वाले हकबका गये कि क्या करें। तब उन्होंने डा० रस बिहारी घोष को सभापति होने दिया।

डा० रस बिहारी घोष का चुनाव उस बड़े खेल का एक छोटा सा भाग था। यह खेल क्या था ? नरमदल गरमदल को सदा के लिये कांग्रेस से अलग करना चाहता था। 'इन्दु प्रकाश' और अंग्रेज़ी के 'भारतीय समाज सुधारक' आदि पत्रों से यह बात स्पष्ट थी। इस समय गोखले और अन्य नरमदल वालों का कर्त्तव्य था, कि वह गरमदल के इस संशय को दूर करते। सूरत कांग्रेस के दस दिन पूर्व जो प्रस्ताव कांग्रेस के सामने रक्खे जाने वाले थे उनकी एक सूची प्रकाशित हुई। इस में स्वराज्य, बायकाट, राष्ट्रीय शिक्षा, जिन पर कलकत्ते की कांग्रेस ने अलग प्रस्ताव पास किये थे, कोई भी न थे।

२३ दिसम्बर १६०७ को तिलक सूरत पहुँचे। उन्होंने कहा कि स्वराज्य, बायकाट और राष्ट्रीय शिक्षा पर अलग २ पास किये हुए प्रस्तावों को अब मिटाना आत्मघात करने के बराबर है। देश के समाचार पत्रों ने भी इन प्रस्तावों के न होने पर कड़ी आलोचना की। तिलक परेशान थे। उन्हें कांग्रेस का भविष्य अंधकार-मय

दिखाई देने लगा। वह व्याकुल थे। ऐसे क्षणों में वह जनता के पास दौड़ते थे। वही किया। उन्होंने सूरत की जनता से अपील की कि वह जितना आगे बढ़ आये हैं वहीं रुके रहें, पर पीछे तो न हटें। दूसरे दिन लगभग ५०० गरमदल वालों की एक सभा अरविंद घोष के सभापतित्व में हुई। इसमें यह निश्चय हुआ कि गरमदल वैधानिक रूप से कांग्रेस को पीछे हटने से रोके और यदि आवश्यक हो तो सभापति के चुनाव का विरोध करे। कांग्रेस मन्त्री को एक पत्र लिखा गया कि यदि आवश्यक हो तो वह हर विवादास्पद विषय पर, चाहे वह सभापति का चुनाव क्यों न हो, वोट लेने का प्रबन्ध करे।

लाला लाजपतराय, जो २५ दिसम्बर को सूरत आये थे, दोपहर में तिलक और खापर्डे से मिले और बोले कि वह दोनों दलों के नेताओं की एक सभा करना चाहते हैं, इस विवाद को समाप्त करना चाहते हैं। तिलक और खापर्डे के सहमत होने पर वह गोखले से मिले। इधर संध्या समय गरम दल ने एक सभा की जिसमें एक राष्ट्रीय समिति बनाई गई। इस समिति में हर प्रान्त का एक सदस्य था। यह निश्चय हुआ कि यह समिति नरमदल वालों से बातचीत करेगी और यदि यह समझौता करने में असफल रही तो वह सभापति के चुनाव का विरोध करेगी। लाला लाजपतराय को न तो २५ की रात को और न २६ की सवेरे उस संयुक्त समिति की कोई सूचना मिली। और न होने वाले प्रस्तावों की ही कोई प्रति दी गई।

२६ दिसम्बर के प्रातःकाल तिलक तथा अन्य गरम दल के नेता सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के घर गये और कहा कि वह सभापति के चुनाव का विरोध नहीं करेंगे यदि कांग्रेस गत वर्ष के प्रस्तावों से पीछे न हटे। उन्होंने यह भी कहा कि यदि किसी मीठे ढंग से लाला लाजपत राय का नाम भी सभापति के पद के लिये आजाय तो अच्छा है। सुरेन्द्र बाबू ने कहा कि वह लाला जी के नाम का स्वयं समर्थन करेंगे प्रथम प्रस्ताव पर वह अपने और बंगाल की ओर से आश्वासन दे सकते हैं सब की ओर से नहीं। इस लिये वे गोखले व मालवी से मिलें। मि० मालवी स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। एक आदमी मि० मालवी को सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के घर बुलाने भेजा गया पर उन्होंने यह कह दिया कि उनके पास आने के लिये समय नहीं है। वह पूजा पाठ में व्यस्त हैं। इस समय ११ बज चुके थे। तिलक अपने तम्बू में खाना खाने चले आये। १२ बजे कांग्रेस पंडाल में आने पर उन्होंने बराबर मालवी से मिलने की चेष्टा की पर उन का कहीं पता ही न था। ढाई बजे के कुछ पहले तिलक को सूचना मिली कि मालवी सभापति के तम्बू में हैं। तिलक ने उनसे कुछ मिनटों के लिये मिलने का संदेश भेजा पर मालवी उन्हें टाल गये। वह अभी नहीं मिल सकते। अभी सभापति का जुलूस निकलने वाला है।

नरमदल के किसी भी ज़िम्मेदार व्यक्ति से कोई आश्वासन २½ बजे तक न मिलने पर तिलक ने सुरेन्द्र नाथ बनर्जी को

यह पर्ची भेजी कि वह अपने भाषण में अब लाला लाजपतराय का नाम न लावें। उन्होंने प्रस्ताव की एक प्रति मालवी से मांगी जो उन्हें ३ बजे मिली यद्यपि 'अडवोकेट ऑफ इन्डिया' पत्र को यह एक दिन पूर्व ही मिल गई थी।

कांग्रेस का अधिवेशन आरम्भ हुआ। स्वागत-समिति के अध्यक्ष मालवी ने अपना भाषण पढ़ा। तत्पश्चात डा० घोष का नाम सभापति के लिये प्रस्तावित किया गया। जब सुरेन्द्रनाथ बनर्जी बोलने उठे तो लोगों ने बहुत शोर किया। उन्हें बोलने नहीं दिया। संभवतः उस समय लोगों को मिदनापुर सभा का स्मरण हो आया था जहाँ उन्होंने पुलिस की सहायता से गरम दल वालों को निकाल दिया था। शोर गुल के कारण उस दिन की सभा स्थगित कर दी गई। दूसरे दिन १२½ बजे तिलक ने मालवी के पास यह सूचना भेजी—

"श्रीमान, मैं सभापति के चुनाव के विषय में, उस के समर्थन के बाद, सदस्यों से कुछ कहना चाहता हूँ। मैं एक रचनात्मक सुझाव के साथ एक संशोधन रखना चाहता हूँ। कृपया मेरा नाम घोषित कर दीजिये।"

१ बजे अधिवेशन आरंभ हुआ बाबू सुरेन्द्र नाथ की कल की स्पीच को पूरा करने को कहा गया। उन्होंने अपनी स्पीच पढ़ी। पूरी पढ़ी। सब ने उसे सुना। शान्ति से सुना। तिलक को उनकी पर्ची पर कोई उत्तर नहीं मिला था अतएव उन्होंने फिर उस के लिये दुबारा कहा। फिर भी मालवी चुप ही रहे

इसलिये तिलक सुरेन्द्रनाथ के बाद मंच पर बोलने को चल पड़े।

तिलक को एक वालंटियर ने रोका। तिलक ने अपने बोलने का हक मांगा। इसके पहले कि डा० घोष सभापति की कुर्सी ग्रहण करते, तिलक प्लेटफार्म पर पहुँच गये। जब ही तिलक बोलने को उठे स्वागत-समिति और नरम दल वालों ने शोर मचाना आरंभ कर दिया। तिलक बराबर अपने बोलने के हक़ पर ज़ोर देते रहे। डा० घोष ने बीच में बोलना चाहा तिलक ने आपत्ति की। वह वैधानिक रूप से अभी चुने नहीं गये हैं। एक तूफान उठ पड़ा।

खापर्डे की डायरी में सूरत का लिखा हुआ २६ दिसम्बर का यह वर्णन मिलता है—"डा० गर्डे ने देखा कि कांग्रेस पंडाल में अनेक बदमाश भी थे जिन्हें 'बैज' दे दिये गये थे जिससे वे कांग्रेस के कार्य कर्त्ता मालूम पड़ते थे।.........तिलक अधिवेशन में आये हुए लोगों से अपील करना चाहते थे। पर अध्यक्ष ने और नरमदल वालों ने उन्हें बोलने नहीं दिया। एक नरमदल वाले व्यक्ति, मेरी समझ से अम्बालाल, ने तिलक की ओर कुर्सी फेंकी। इससे हमारा दल क्रोध से बौखला पड़ा। एक नरमदल वाले ने तिलक के ऊपर जूता फेंका। यह जूता सुरेन्द्रबाबू की पीठ में और फीरोज़शाह मेहता के गाल में लगा।"

यह लोग तिलक से एक गज़ ही दूर बैठे थे। डा० घोष ने दो बार भाषण पढ़ने की चेष्टा की पर लोगों ने 'नहीं-नहीं' का शोर किया। इस लड़ाई-झगड़े के कारण बाकी कार्य-क्रम स्थगित

कर दिया गया।

डा० घोष यद्यपि अपनी स्पीच को कांग्रेस पंडाल में पढ़ न पाये थे परन्तु दूसरे दिन वह प्रकाशित हुई। उसमें उन्होंने गरमदल वालों पर ज़ोर से आक्रमण किया। मोतीलाल घोष, ए० सी० मित्रा, बी० सी० चटर्जी ने दोनों दलों को एक करने की बहुत चेष्टा की—वे २७ तारीख की रात्रि को और २८ की प्रातः तिलक के पास गये। तिलक ने उन को लेखनी बद्ध यह आश्वासन दिया—"हम लोगों की बातचीत ध्यान में रखते हुए और विशेषकर कांग्रेस के हित में, मैं और मेरी पार्टी डा० रस विहारी घोष के सभापति के चुनाव करने को तैयार हैं, और जो हुआ उसे हम भूलने को तैयार हैं यदि—

(१) गत वर्ष के स्वराज्य, स्वदेशी, बायकाट और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्ताव पर कांग्रेस टिकी रहती है और ये अलग २ प्रस्ताव में स्पष्ट रूप से फिर दुहराये जाते हैं।

(२) डा० घोष की स्पीच में से ऐसे वाक्य जो गरमदल वालों को असहनीय हैं, यदि हैं, तो काट दिये जांय।"

यह पत्र नरमदल वालों के पास ले जाया गया पर वे एक होने को सहमत न थे। नरमदल वालों की अलग एक सभा हुई और इस तरह दोनों दलों के बीच खाई और बढ़ गई।

सूरत की कांग्रेस ने इतिहासकारों को, तिलक के मित्रों को, तिलक के शत्रुओं को, चलते चलते कुछ सोचने के लिए रोक दिया। सब ने सब तरह के प्रश्न किये—सूरत की कांग्रेस किसने

तोड़ दी ? कलकत्ते के प्रस्ताव पर से कौन पीछे हटना चाहता था ?? लार्ड मौर्ले के झण्डे के नीचे कौन खड़ा होना चाहता था ??? आदि।

विधान और कानून में दत्त डा० स्मिथ का कहना है—

"जब कि विवाद हो रहा है किसी भी समय विवाद को समाप्त करने के लिये प्रस्ताव रक्खा जा सकता है।"

अतएव तिलक का स्वागत-समिति के अध्यक्ष को सूचना देना वैधानिक था। क़ानून के अनुसार अध्यक्ष को उस के ऊपर वोट लेनी चाहिये। मालवी ने ऐसा नहीं किया। गलत किया।

केसरी में तिलक लिखते हैं—"नरम और गरम दल दोनों को यह स्मरण रखना चाहिए कि दोनों दल के लोगों का एक मात्र ध्येय देश का हित है। कोई भी जान बूझ कर देश को नष्ट करने के लिये कोई कार्य नहीं कर रहे। यदि दोनों दल यह मानकर चलें, यदि दोनों यह समझ लें कि विचारों में भेद अवश्यंभावी है और यह देश के मज़बूत होने का चिह्न है तो गलतफ़हमी कम होगी। दोनों दलों को यह जानना चाहिए कि केवल एकता में ही अपनी बचत है और विचारों में भेद होने पर भी यह एकता हमें कायम रखनी है। नरम दल वालों को यह स्मरण रखना चाहिये कि इस नवीन पार्टी के उत्पन्न होने से साम्राज्यवादी उन्हें अपने निकट रखना चाहता है। गरम दल यह समझे कि यद्यपि नरम दल की हिचक और भय से प्रायः उन का गला घुटता सा है फिर भी उनके प्रभाव और प्रतिष्ठा की उन्हें अवहेलना नहीं

करनी चाहिए। उनसे यदि यह लाभ है तो यह हानि भी है। गरम दल को राजनैतिक संग्राम में सदा आगे रहना पड़ा है पर उनकी विजय का फल नरम दल को ही मिलता है। गरम दल के सम्पर्क में होने के कारण नरम दल को प्रायः सरकार के क्रोध और व्यंग बाण का भागी होना पड़ता है।"

कांग्रेस के तोड़ने वाले के हृदय में ऐसे पवित्र विचार नहीं आ सकते। आरम्भ से अन्त तक तिलक की यही चेष्टा रही थी कि काँग्रेस में एकता रहे। उन्होंने इसको बनाये रखने के लिये सतत परिश्रम किया। यदि फिर भी काँग्रेस टूट गई तो दोष किसके दरवाज़े पर पड़ना चाहिये। यह ऊपर के विस्तृत वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा।

फिर भी तिलक के शत्रुओं को इस सूरत की फूट से उनका मज़ाक उड़ाने का अवसर मिल गया था। उस समय लार्ड मिन्टो ने इस फूट की ओर संकेत करते हुए तिलक के लिये लिखा था-

"पार्टी के मैनेजर की हैसियत से वह अभी बच्चा है।"

इस फूट पर दुश्मन हंस रहे थे। इस फूट पर राष्ट्रीयता आँसू बहा रही थी। सूरत की घटना के ऊपर पांडचेरी के संत अरविंद लिखते हैं—

"सूरत की कांग्रेस के बाद कितनों ने तिलक को जानबूझ कर कांग्रेस को तोड़ने वाला कहा है पर इस घटना से किसी को इतना बड़ा धक्का न पहुँचा होगा जितना तिलक को। उन्हें

इस सभा के अकर्मण्य लोगों से प्यार न था, फिर भी वह उसे एक राष्ट्रीय तथ्य मानते थे जो कि अधूरी आशा को पूरा करेगी। इस लिये वह अपने ठोस कार्य के लिये इसे एक मुख्य संस्था बनाना चाहते थे। एक लाभप्रद संस्था को जो पहले से है उसको नष्ट करने का विचार या इच्छा उनके मन में कभी नहीं आ सकती थी। जब उनका मष्तिस्क किसी भी परिस्थिति या सिद्धान्त पर दृढ़ हो जाता था तो वे हठी और अटूट हो जाते थे। फिर भी वह एकता के लिए सदैव तैयार रहते थे जिससे कि ठोस कार्य हो सके। कुछ न मिलने की अपेक्षा वह आधी रोटी ही लेने को तैयार रहते थे यद्यपि यह विचार उनमें बराबर बना रहता था कि कुछ और समय में वह पूरी रोटी ले लेंगे। पर वह भूसा या मिट्टी एक अच्छी रोटी की जगह लेने को कभी तैयार न थे।"

(४—८—१९५० के 'मराठा' से)

निरपराधी का अपराध

सूरत से पूना लौटने पर तिलक ने गरम दल के एक दैनिक 'राष्ट्रमत' के लिये चन्दा एकत्रित करना आरम्भ किया। जून १६०८ में यह पत्र प्रकाशित हुआ और अपने थोड़े से जीवन में इसने अपना जन्म सार्थक कर दिखाया।

फरवरी १६०८ में तिलक ने पूरे महाराष्ट्र का दौरा किया। उन्होंने लगभग ५ लाख रुपया राष्ट्रीय स्कूल 'समर्थ विद्यालय' के लिये एकत्रित किया। पहले वह शोलापुर गये और फिर बारसी। उनका ज़ोरों से स्वागत हुआ और उन्होंने ५००००) एकत्रित किये। सरकार ने १६१० में समर्थ विद्यालय को ज़बरदस्ती बन्द करा दिया।

इधर तिलक का ध्यान गरम और नरम दल को एक करने पर बराबर रहा। सूरत के बाद संयुक्त बंगाल की फ़रवरी १६०८ में कवीन्द्र रवीन्द्र की अध्यक्षता में एक सभा हुई। इस सभा में दोनों दल के लोग आये थे और काफ़ी सोच विचार के बाद स्वराज्य, स्वदेशी, बायकाट और राष्ट्रीय शिक्षा पर प्रस्ताव पास हुए। तिलक को आशा थी कि बम्बई प्रान्त की शिक्षा पर भी यह प्रस्ताव इसी रूप में पास होंगे और दोनों दल एकता के सूत्र में बँध जायेंगे। पर होना कुछ और था।

३० अप्रैल १६०८ को एक बम जो कि किंग्सफोर्ड जज को मारने के लिये मुज़फ्फ़रपुर में रक्खा गया था उसने श्रीमती

कैनेडी और उनकी पुत्री को वहीं समाप्त कर दिया। अनेक बंगाली युवक पकड़े गये। कुछ ऐंग्लो इंडियन पत्र खून का बदला खून से माँगने लगे। इन में 'पायनियर' और 'एशियन' मुख्य थे। नरम दल वाले और राज भक्त लोग घबड़ा गये। सरकार में भगदड़ मच गई।

तिलक के ऊपर लोगों को समझाने का कर्त्तव्य आ पड़ा। उन्होंने इस खून खराबी को कभी ठीक नहीं कहा और न उन्होंने बम का ही स्वागत किया कि वह भारत का उद्धार करने आया हो। उन्हें यह कठिन कर्त्तव्य निभाना पड़ा कि सरकार को बतायें कि दमन नीति के क्या खतरे हैं, क्रान्तिकारियों को बतायें कि जो कुछ वह कर रहे हैं बिल्कुल गलत है और नरम दल वालों को समझायें कि वे इस बम की घटना से अपना सिर न खो बैठें। और यह सब कार्य तिलक ने अपूर्व क्षमता से निभाया।

२२ मई १९०८ को तिलक और २४ महाराष्ट्र के अग्रगण्य नेताओं के हस्ताक्षर से एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसमें सरकार की दमन नीति पर और बम दुर्घटना पर खेद प्रकट किया गया। इसी बीच में समाचार पत्रों के सम्पादकों की पकड़ धकड़ आरम्भ हो गई।

तिलक भी गिरफ्तार हुए। उनका १२ मई १९०८ का सीधा साधा लेख ही सरकार को उनकी गिरफ्तारी के लिए मिल सका। देश के मुख पर क्रोध और दुख के भाव आ गये। बम्बई सरकार ने सोचा कि यह लेख

अकेला हलका पड़ेगा इसलिये ६ जून १६०८ के 'केसरी' के एक और लेख को लेकर एक नया वारंट उन्हें जेल में ही दे दिया गया।

२ जुलाई १६०८ को उनकी ज़मानत की अर्ज़ी जिन्नाह साहब ने न्या० दावर के सामने पेश की। यह दावर ने नामंजूर कर दी। कितने आश्चर्य की बात थी। ११ वर्ष पूर्व इन्हीं दावर ने न्या० तैयब के सामने इसी विषय पर तिलक को छोड़ देने के लिये बहस की थी। यह क्या ? क्या दावर साहब बदल गये थे। या उनके विचार बदल गये थे ? उत्तर सीधा है। जिस सरकार ने उन्हें न्यायाधीश के ऊँचे पद पर बैठाया था, उसे वह किसी कीमत पर नाराज़ नहीं करना चाहते थे। जज का पद उन्हें बहुत महँगा पड़ा। फिर दूसरा दुर्भाग्य यह था कि तिलक के अभियोग में एक विशेष जूरी बनाई गई। बैपतिस्ता ने, जो तिलक के वकील थे, इस बात पर ज़ोर दिया कि इस जूरी में अधिकतर योरोपियन होंगे जो मराठी से अनभिज्ञ होंगे और इस लिये अच्छे जज न होंगे। दूसरे तिलक पर यह आरोप था कि उन्होंने योरोपियनों के विरुद्ध भारतीयों को भड़काया है इस लिये अंग्रेज़ों को फैसले में बैठने के यह माने हुए कि तिलक ने इन जजों के खिलाफ़ भड़काया है। पर बैपतिस्ता की बात नहीं मानी गई। और जूरी बैठी।

१३ जुलाई १६०८ को एडवोकेट जनरल ने बहस आरम्भ की। जो वाक्य खतरनाक थे वह बताये नहीं गये। इस पर

तिलक ने आपत्ति की। उत्तर मिला कि सभी शब्द और सम्पूर्ण लेख खतरनाक हैं। तिलक के पिछले अभियोग में ब्रिटिश सरकार तिलक की विद्वत्ता देख चुकी थी इस लिये वह उनके पाँडित्य से टकराना नहीं चाहती थी। वह जानती थी कि विद्वत्ता में वह सरकार की धज्जियाँ उड़ा देंगे।

तिलक ने अपनी पैरवी आप की। उन्होंने सरकारी अनुवाद-कर्त्ता जोशी से प्रश्न किये, उनसे उलट पुलट कर पूछा और कहा कि उनके अनुवाद गलत हैं। तिलक के इन प्रश्नों में उन के वकील के सभी गुण और मराठी भाषा पर आश्चर्य जनक अधिकार छिपा था। जब तिलक के घर की तलाशी ली गई तो एक पोस्ट कार्ड पर दो पुस्तकों के नाम लिखे थे जो कि बम के ऊपर थीं। फिर क्या था। यह पोस्ट कार्ड भी अदालत में पेश हुआ। सरकार से कौन कहे कि एक किताब तो बम नहीं हो सकती और फिर एक किताब का केवल नाम ही बम कैसे हो सकता है। पोस्ट कार्ड को समझाने के लिये तिलक ने अनेक समाचार पत्रों से ७१ उदाहरण दिये और यह दिखाया कि उनके एक लेख से कितने राजनैतिक विवाद होते रहते थे—उसी एक लेख के बारे में कोई कुछ कहता था और कोई कुछ।

तिलक ने अपनी स्पीच १५ जुलाई १९०८ को आरम्भ की। यह स्पीच २१ घण्टे और दस मिनट में समाप्त हुई।

'माडर्न रिव्यू' लिखता है कि जब यह स्पीच हो रही थी तब—"जज जूरी और सरकारी वकील तिलक के महान व्यक्तित्व

के सामने सिकुड़ कर खोये हुए से मालूम पड़ते थे ।"

८ बजे रात को जूरी फैसला करने को अन्दर गए और ९½ बजे वापस आये। उस समय अदालत में सभी लोग निर्णय सुनने को आतुर हो रहे थे। तिलक सदा की तरह इस अवसर पर भी प्रसन्नचित्त थे। उन्होंने भगवान कृष्ण के यह शब्द कहे—

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्य से महीम—

यदि तुम हार जाते हो तो स्वर्ग में शासन करोगे यदि जीत जाते हो तो संसार तुम्हारे चरणों पर है ।"

जूरी आये और उन्होंने प्रत्येक आरोप पर तिलक को दोषी बताया। २ तिलक के पक्ष में थे और ७ विपक्ष में। इस समय तिलक के पास अवसर था कि वह अपने शब्द वापस ले लेते या क्षमा माँग लेते पर वह झुकने वाले जीव न थे। उन्होंने अपनी गम्भीर आवाज़ में वह प्रसिद्ध शब्द कहे जिन पर देश को गर्व है। उन शब्दों से हमारे कितने भारतवासियों को प्रेरणा मिली। कितने लोग प्रभावित हुए। यह शब्द स्वतंत्रता-संग्राम के सैनिकों की जीभ पर सदा अमर रहेंगे। उन्होंने कहा—"मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि जूरी के निर्णय के विपरीत मैं निरपराध हूँ। कुछ और बड़ी शक्तियाँ हैं जो लोगों के भाग्य के ऊपर शासन करती हैं। संभवतः भगवान की यह इच्छा हो कि जिस कार्य का मैं प्रतिनिधि बना हूँ वह मेरे स्वतंत्र रहने की अपेक्षा मेरे कष्ट सहने में अधिक आगे बढ़ेगा।"

जज ने ६ वर्ष की देश निकाला की सज़ा सुनाई उसने

कहा:—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारा एक रोग ग्रस्त मष्तिष्क है, एक अत्यन्त दूषित बुद्धि है जो यह कह सके कि जो लेख तुमने लिखे हैं वह राजनैतिक आन्दोलन में उपयुक्त शस्त्र हैं। उनमें राजद्रोह की बू आ रही है। उनमें हिंसा टपकती है। उनमें खून करने की आज्ञा दी गई है।"

यह जज नहीं बोल रहे थे, उनके वेश में साम्राज्यवाद बोल रहा था। यह न्याय नहीं बोल रहा था, यह ब्रिटिश नीति बोल रही थी।

दूसरे दिन २३ जुलाई १६०८ को जब तिलक की ५३वीं वर्ष गाँठ थी, उनकी सज़ा की खबर घर घर फैल गई। बाज़ार अपने आप बन्द हो गए, स्कूल कालेज खाली हो गए। बम्बई के मिल मज़दूर ६ दिन तक काम पर नहीं गए। देश भर में शोक सभाएँ हुईं। कुछ नरम दल वाले इन सभाओं में भी न आये जैसे फीरोज़शाह मेहता। गोखले उस समय लंदन में थे। वह भी शोक सभा से अलग रहे। उन्हें सभापति बनने को कहा गया पर उन्होंने इन्कार कर दिया।

फ़ैसला सुनाने के बाद ही पुलिस तिलक को साबरमती के जेल में ले गई। वहाँ वह साधारण क़ैदी की तरह रक्खे गये। जब दस दिन में उनका वजन १० पौंड कम हो गया तो सरकार को चिन्ता हुई और तब भले आदमियों की खुराक़ उन्हें मिलने लगी।

१३ सितम्बर १६०८ को वह साबरमती से मांडलेय भेज

दिये गये। फैसला साधारण कैद में परिणित कर दिया गया। यदि वह अंडमन में रहते तो आज़ाद रहते। यहाँ मांडलेय में उन्हें एक २० x १२ फुट के कमरे में ६ वर्ष रहना पड़ा। जब तिलक को यह सज़ा हुई थी तो लोगों को आशा न थी कि वह सज़ा पूरी कर बच सकेंगे। पर तिलक को भगवान पर भरोसा था। वहाँ पर भी उन्हें एक ब्राह्मण क़ैदी मिल गया था। वह उनका खाना बना दिया करता था। उनका खाना भी असाधारण था। उन्हें दूसरी बार जेल जाने पर डायबिटीज़ हो गई थी। पर तिलक अपने संयम और नियम से २५ वर्ष तक इस बीमारी पर क़ाबू पाते रहे। २५ वर्ष तक उन्होंने इस बीमारी के कारण चीनी और चावल का एक भी दाना नहीं खाया था। यह ब्राह्मण कैदी इनके लिए विशेष रूप से भोजन बना देता था जो इस बीमारी में लाभदायक था।

१९११ के दिल्ली दरबार के समय भी तिलक को नहीं छोड़ा गया।

होम रूल का जन्म दाता

आखिर जेल के यह ६ वर्ष भी पूरे होने को आये। आखिर सामंतशाही को महाराष्ट्र-केसरी को छोड़ना ही पड़ा। आखिर दिन बदले।

समय बदल रहा था, पर भारत सरकार बदलने को तैयार न थी। लोगों की समझ बदल रही थी, पर अंग्रेज़ सरकार समझने को तैयार न थी। ऐसा क्यों? लोगों की इच्छा के विरुद्ध, न्याय की प्रेरणा के विरुद्ध तिलक को छः लम्बे वर्षों तक जेल में क्यों रक्खा गया? इसका उत्तर हमें थौरयो के इन शब्दों में मिलता है:—"अन्याय के समय न्याय शील व्यक्ति का स्थान जेल में होता है।"

सत्य रो पड़ा। उस ने बहुत कड़वे घूंट पिये थे, पर आज का सा नहीं। उसे डर लगा कि इस घूंट को पीकर उसकी मधुरता सदा के लिये नष्ट न हो जाय। इन शब्दों की ओट में उस ने न्याय को पृथ्वी पर पड़े देखा—विकल, विवश।

तिलक मांडलेय से लाये गये। १७ जून १९१४ की आधी रात को सरकार ने चुपचाप तिलक को उनके घर के सामने छोड़ दिया, ठीक उसी प्रकार जैसे चोर पकड़े जाने के डर से चुराया हुआ माल छोड़ कर भाग जाता है।

सरकार को आशा थी कि तिलक जेल की ६ वर्ष की अवधि को पूरा न कर पायेंगे। वह इस बीच में ही समाप्त हो जायेंगे।

पर जब सरकार इस देश के रत्न को हज़म न कर सकी तो एक चालाक चोर की तरह उसने उन्हें उगलना ही उचित समझा। और तिलक छोड़ दिये गये।

लोग अपनी कल्पना दौड़ा रहे थे। तिलक छूट चुके हैं, पर बाकी जीवन पुस्तकें लिखने में बितायेंगे। तिलक छूट चुके हैं पर अब राजनीति के झगड़े में नहीं पड़ेंगे। एक दो नहीं पूरे छः साल जेल की दीवारों की ईंट गिनते रहे हैं, अब उनमें जोश रहा ही कहाँ होगा? तिलक के एक वाक्य ने उन के दुश्मनों की बेतुकी बातों पर राख डाल दी। उन्होंने कहा—"साहित्य और दर्शन केवल मेरे विनोद की वस्तु हैं, मेरे जीवन का कार्य एक बिल्कुल दूसरी दिशा में है।"

जनता आंधी की तरह होती है जो अपने वेग में सब कुछ बहा ले जाती है। तिलक को देखकर यह आंधी फिर उठी। जनता फिर उठी। जनता के आवेग को एक रूप दिया गया—एक सुव्यवस्थित स्वरूप। सभा हुई। तिलक के स्वागत की तैयारी हुई। पूना फिर से जी उठा। आज ६ साल बाद वही आवाज़ फिर सुनाई पड़ी। सब के कान उधर लगे थे, सब की आँखें उधर थीं। साम्राज्यवाद के गुर्गे और मुर्गे भी उस सभा में आये थे—पर वेश बदलकर, लुक छिपकर। तिलक का तेज देखकर वह मन ही मन नत-मस्तक हो गये। सामंतशाही का प्रकोप सोचकर वह अपनी परवशता पर झुंझला रहे थे। इतने में तिलक के शब्द सुनाई पड़े—

"आज जब छः वर्ष पश्चात मैं अपने घर आया, और संसार से अपना पुराना परिचय फिर करने लगा तो मैंने अपने आप को रिप वैन विंकल के समान पाया। सरकार ने मुझे दुनिया से इतनी दूर रक्खा जिससे कि मैं उसे भूल जाऊँ और वह मुझे भूल जाय। लेकिन मैं अभी लोगों को भूला नहीं हूँ और मुझे यह देखकर प्रसन्नता हो रही है कि आप लोग भी मुझे भूले नहीं हैं। मैं जनता को यही विश्वास दे सकता हूँ कि ६ वर्ष अलग रहकर भी मेरा प्रेम लोगों के प्रति कम नहीं हुआ है, और मैं उनकी सेवा उसी ढंग से उसी संबंध से और उसी क्षमता से करने को तैयार हूँ यद्यपि यह संभव है कि मुझे अपना मार्ग थोड़ा बदलना पड़े।"

अब तिलक के पास तीन कार्य थे। कांग्रेस में एकता लाना, गरमदल का संगठन, और होम रूल का आन्दोलन।

सरकार ने देखा कि तिलक शान्ति से बैठने वाले नहीं हैं तो वह भी शांति से बैठने को तैयार न थी। तिलक के घर के चारों ओर पुलिस थाने बन गये जैसे कोई मोर्चा लिया जा रहा हो या किसी दुर्गम दुर्ग पर चढ़ाई करने का प्रबन्ध किया जा रहा हो। जो कोई तिलक के घर से निकलता या उनके घर में जाता उस का नाम लिख लिया जाता। सरकारी कर्मचारियों को उन से मिलने पर चेतावनी दी जाने लगी। पर यह सब कितने दिन। अगस्त १९१४ में महायुद्ध के छिड़ जाने से सरकार धमाके के साथ नीचे आ गिरी। जमीन पर आते ही उसे

अपनी नीति बदलनी पड़ी। उलटे पैरों वापस आना पड़ा।

मिसेज़ बेसेन्ट विलायत में होम रूल का आन्दोलन करने गई थीं। वहाँ से वह हताश होकर लौटीं, पर भारत में आकर वह फिर होम रूल के आन्दोलन में लग गईं। वे कहती थीं—

"भारत की राज्यभक्ति का मूल्य भारत की स्वाधीनता है।"

यह विचार अकेले मिसेज़ बेसेन्ट के न थे। यह देशवासियों के विचार थे। यह लाला लाजपतराय और जिन्नाह के विचार थे।

जब महायुद्ध छिड़ा तो क्रांतिकारियों के अतिरिक्त सभी पार्टियों ने ब्रिटिश साम्राज्य को सहायता देने का वचन दिया। २७ अगस्त १९१४ को तिलक ने राज्य भक्ति की अपनी प्रसिद्ध घोषणा की—"ऐसे संकट के समय में प्रत्येक भारतवासी का यह धर्म हो जाता है, चाहे वह बड़ा हो या छोटा, निर्धन हो या धनी कि ब्रिटिश साम्राज्य की अपनी पूरी शक्ति से सहायता करे।"

तिलक ने एक नागरिक सेना बनाने का सुझाव रक्खा। इस पर गरमदल और नरमदल वाले सभी सहमत थे—इसलिये इस पर सरकार को सहमत होने में आनाकानी होने लगी। सरकार की केवल यह नीति ही नहीं रही, नियम रहा है कि जिस सुझाव को भारतवासी एक होकर मान लेते हैं, उसे सरकार मानने को तैयार नहीं होती और जिस पर भारतवासियों में एका नहीं होता उसे मानने को झट आगे बढ़ जाती है।

१९ फरवरी १९१५ को गोखले की असामयिक मृत्यु हो गई।

यह सुनते ही तिलक तत्काल ही सिंहगढ़ से मोटर द्वारा पूना आये। उनका हृदय बहुत विशाल था, उदार था। जिस गोखले से वह जीवन-पर्यन्त लड़ते रहे उनके निधन पर नतमस्तक हो उन्होंने श्रद्धांजलि दी। उन्होंने कहा—"यह ताली बजाने का समय नहीं है। यह समय आँसू बहाने का है। यह भारत का हीरा, महाराष्ट्र का रत्न, मज़दूरों का राजकुमार आज सदाके लिये सो गया है। इन की ओर देखकर आप कुछ ग्रहण कीजिये। आप में से प्रत्येक इस बात का प्रयत्न करे कि इन के जीवन को आदर्श मानकर इनका अनुकरण करे, इनसे कुछ सीखे। आप में से प्रत्येक इस बात का प्रयत्न करे कि इनकी मृत्यु से जो स्थान खाली हुआ है वह भरे। यदि आप इस प्रकार चलेंगे तो स्वर्ग में भी इनकी आत्मा को सुख मिलेगा।"

अभी गोखले की मृत्यु के आँसू न सूख पाये थे कि नवम्बर १९१५ में फ़ीरोज़शाह मेहता की मृत्यु हो गई। बूढ़े वाचा के नेत्रों से कम दीखने लगा था। श्रीनिवास शास्त्री स्वभाव से पीछे की पंक्ति में ही रहना चाहते थे। मालवीयजी देश को नरमदल की नीति पर आगे नहीं ले जा सकते थे। गांधी भारत में अभी हाल में ही आये थे। लाला लाजपतराय देश की दशा से खिन्न हो गये थे। महायुद्ध के चार वर्षों में वह अमरीका में ही रहे। इस समय नेतृत्व की कमी थी। सेना थी, पर सेनानी न था। तिलक इस स्थिति को पढ़ रहे थे। मांडलेय की जेल में उन्होंने जो लाइनें खींची थीं, उन पर चलने का समय आ गया था।

तिलक को इस समय केवल महाराष्ट्र का ही नहीं सम्पूर्ण भारतवर्ष का सम्राट होना था—बिना छत्र के, बिना मुकुट के, बिना सिंहासन के। पर कुछ शक्तियाँ उनके विरुद्ध काम कर रही थीं।

१६१५ की कांग्रेस में तिलक और गांधी पृष्ठभूमि में रहे। इस समय तिलक को कांग्रेस का सभापति होना चाहिये था। इस समय देश को अपनी बागडोर तिलक के हाथ में देनी चाहिये थी। पर कौन किस से कहे! ईर्ष्या और द्वेष ने कब कब सिर ऊँचा नहीं किया। उस समय तिलक जब कि एक एक दिन को अपने हाथ से पकड़ रहे थे, विपक्षियों ने पूरे एक वर्ष को उन के पीछे से खिसका दिया। यह कांग्रेस वास्तव में नरमदल वालों की ही होकर रह गई। बम्बई की इस कांग्रेस के सर सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा सभापति थे।

तिलक कितने प्रयत्न करके हार गये कि कांग्रेस अपना मंडल विलायत भेजे, पर ऐसा न हो सका। वह हाथ पर हाथ धरे न बैठ सके। २३ अप्रैल १६१६ को उन्होंने अपनी होम रूल लीग की स्थापना की। तिलक की यह संस्था मिसेज बेसेन्ट की संस्था से ६ महीने पूर्व बन चुकी थी। नये भावों को लोगों के हृदय में जमाना तिलक को खूब आता था। वह अब होम रूल के विचारों की पुष्टि करने लगे। उनकी लीग का प्रोग्राम कांग्रेस पर आधारित था। लोगों ने इस प्रोग्राम का स्वागत किया। श्रीनिवास शास्त्री ने इस का अभिनन्दन किया। पर सरकार को संदेह हुआ। और यह संदेह बना रहा।

१ मई १९१६ को एक प्रान्तीय सभा बेलगाँव में हुई। इसमें गरमदल के एक हज़ार सदस्य आये थे। तिलक ने अपनी शक्ति को फिर से देखा। इस सभा में तिलक ने दोनों दलों में मैत्री का प्रस्ताव रक्खा।

सरकार तिलक को शांत रखना चाहती थी, जेल में नहीं। ६ साल जेल में रखकर भी वह उनको देख चुकी थी, पर फल कुछ न हुआ। इस लिये अब उसने उनके तीन व्याख्यानों को उठाया। जो उन्होंने बेलगांव और अहमदनगर में दिये थे। उन पर अभियोग चला। वही पुराना कानून, वही पुराने आरोप। तिलक भी सरकार के साथ खेलते खेलते सिद्धहस्त हो गये थे। सरकार की कौन सी नस कहाँ पर है, यह उन्हें मालूम थी। कौन सी नस कब दबानी चाहिये, यह वह जानते थे।

७ मई १९१६ को ज़िलाधीश के यहाँ अभियोग चला। बिनिंग ने कहा कि तिलक की देश भक्ति केवल कानून से बचने का एक बहाना है। ज़िलाधीश ने कहा कि तिलक जनता को सरकार के विरुद्ध उभारना चाहते हैं। मैजिस्ट्रेट ने एक वर्ष तक अच्छा व्यवहार करने के लिये तिलक से दो बॉंड भरवाये। और बीस हज़ार का उनकी एक अपनी ज़मानत तथा दूसरे दस हज़ार की दो ज़मानतें। तिलक ने हाईकोर्ट में जाकर सरकार की नस दबाई और कुछ ही महीनों में ९ नवम्बर १९१६ को हाईकोर्ट ने निर्णय रद्द कर दिया। तिलक के वकील जिन्नाह थे। उन्होंने नीचे के कोर्ट और हाईकोर्ट में उनकी पैरवी की।

२३ जुलाई १९१६ को तिलक को ६१वीं वर्ष गांठ मनाई गई। आठ हज़ार व्यक्तियों की एक सभा हुई। मानपत्र दिये गये। एक लाख रुपये की थैली भेंट की गई। जहाँ कहीं तिलक गये उनका ज़ोरदार स्वागत हुआ। पर शेर अब बूढ़ा हो चला था। शरीर में अब पहले की सी बात न थी। इस से वह देश भर में अपना मन्त्र न फूँक सके। उनकी शारीरिक दशा उन के मार्ग में खड़ी हो गई। यह कार्य उन से आयु में अधिक मिसेज़ बेसेन्ट के लिये छोड़ दिया गया। मिसेज़ बेसेन्ट धर्म से राजनीति में कूद पड़ीं। उन्होंने 'न्यू इंडिया' नामक एक दैनिक निकाला। १ सितम्बर १९१६ को मद्रास में उनकी होम रूल लीग की स्थापना हुई।

लखनऊ कांग्रेस में तिलक बम्बई प्रान्त से गरमदल वालों को अधिक संख्या में भेजने में सफल हुए। आज नौ वर्ष बाद तिलक लखनऊ कांग्रेस में अपने पुराने साथियों से मिले। जब तिलक इस विशाल सम्मेलन में बोलने उठे तो उनका बड़े ज़ोरों से स्वागत हुआ। उन्होंने कहा— "मैं मूर्ख नहीं जो समझूँ कि यह स्वागत मुझे दिया जा रहा है। यदि मैं ठीक समझता हूँ तो यह स्वागत उन सिद्धांतों को दिया जा रहा है जिनके लिये मैं वर्षों से लड़ रहा हूँ, जो इस प्रस्ताव में रक्खे गए हैं जिनका मैं अनुमोदन कर रहा हूँ। मुझे यह कहते प्रसन्नता होती है कि इन दस वर्षों जीवित रहकर मुझे आज यह दिन देखने का अवसर भी प्राप्त हुआ है जब कि

म अपनी आवाज़ और कन्धा मिलाकर स्वराज्य की माँग को आगे बढ़ा रहे हैं। हम आज इस संयुक्त प्रान्त में हर प्रकार से संयुक्त हैं।"

लखनऊ कांग्रेस के सभापति पुराने राष्ट्रीय सेवक बाबू अम्बिकाचरन मजुमदार थे। इस कांग्रेस में नरम और गरम दल एक हुए। इस कांग्रेस में हिन्दू मुस्लिम एक हुए। इस में तिलक और रस बिहारी घोष एक हुए। खापर्डे और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी साथ बैठे थे। यह बैठक लगातार चार दिन तक हुई।

लखनऊ कांग्रेस की सबसे बड़ी देन थी—हिन्दू मुस्लिम एकता। लखनऊ पैक्ट। इसका स्वागत करते हुए तिलक ने कहा:—"कहा जाता है कि हम हिन्दू अपने मुसलमान भाइयों के सामने झुक गये हैं। मुझे आशा है कि मैं हिन्दू जाति के विचारों को वाणी दे रहा हूँ जब मै यह कहता हूँ कि हम इससे अधिक नहीं झुक सकते थे। मुझे कोई चिन्ता न होती यदि स्वराज्य का अधिकार मुसलमानों को ही दे दिया जाता, या राजपूतों को दे दिया जाता, या हिन्दुओं की दलित जाति को ही दे दिया जाता। तब लड़ाई त्रिकोण रूप में न होती जैसी अब हो रही है।" यह शब्द केवल एक राष्ट्र निर्माता के मुख से निकल सकते थे। इस भाषण के बाद तिलक ने मुसलमानों के हृदय में जगह करली।

तिलक केवल एक बात पर असहमत थे। उन्होंने इस बात

पर ज़ोर दिया कि यह बताया जाय कि कब स्वराज्य का कौनसा भाग दिया जायगा। और स्पष्ट शब्दों में इसकी घोषणा की जाय कि पूर्ण स्वराज्य कब तक मिलेगा। उन्होंने इस समय-निर्धारण को जोड़ने की बहुत चेष्टा की, पर कांग्रेस के महारथी इससे सहमत न थे। एकता बनी रहे इस लिए उन्होंने इस विषय को छोड़ दिया। इसी कारण उन्होंने अपनी कांग्रेस की छोटी और ठोस योजना को अभी स्थगित कर दिया।

तिलक चाहते थे कि कांग्रेस, होम रूल लीग और अन्य संस्थाओं को खूब प्रचार करने पर बाध्य करें। पर नरम दल वालों ने यह प्रस्ताव अनमने मन से पास किया। जिन्नाह और मालवीय ने भी इसके विरुद्ध वोट दी।

दिसम्बर १६१६ में विलायत में जब लायड जार्ज प्रधान मंत्री हुए तब वायसराय की आज्ञा हुई कि वह भारत से सैनिक लें, और पर्याप्त संख्या में लें। लायड जार्ज ने यहाँ तक कहा कि भारतवासियों को समझाया जाय कि यह युद्ध उनका युद्ध है, उनमें एक स्वाभाविक जोश लाया जाय, पर लार्ड चैम्सफोर्ड एक दूसरी ही मिट्टी के बने थे। यदि भारतीय नेताओं की एक गोल मेज़ सभा की जाती तो भारतीय युवक लाखों की संख्या में भरती हो सकते थे। तीस करोड़ भारतवासियों में से केवल ६ हज़ार पुरुषों की मांग हुई।

तिलक ने बम्बई और पूना में आन्दोलन किया। युवकों से भर्ती होने की अपील की। उन्होंने कहा— "यदि चढ़ती

आयु और यह श्वेत केश अयोग्यता नहीं है, तो मैं [लड़ाई के मैदान में खड़े होने को स्वयं तैयार हूँ।"

तिलक की आवाज़ में और ही असर था। जनता उनके पीछे ऐसी भागती थी जैसे संध्या होते ही पंछी अपने बसेरों की ओर भागते हैं। उनकी एक पुकार पर सैकड़ों हज़ारों लोग खड़े रहते थे। यही हुआ। उस समय ८०० युवक बम्बई में उसी स्थल पर भर्ती होने को तैयार होगए। पर इस अपील के बाद ही तिलक को पंजाब सरकार की आज्ञा मिली कि वह पंजाब में नहीं जा सकते। किस खुशी में यह आज्ञा हुई थी यह किसी को आज तक नहीं मालूम। जब सरकार का मष्तिष्क शिथिल हो जाता है, वह बूढ़ी हो जाती है तो वह उलटे-सीधे काम करने लगती है। पंजाब सरकार की आज्ञा इन में से एक ऐसा ही काम था।

बात यहीं पर खत्म न हुई। सरकार को मिसेज़ बेसेन्ट से कुछ अधिक डर लगा, और वह बन्दी कर लीं गईं। शेरनी दहाड़ती रही। कटघरे में रखने से कहीं दहाड़ नहीं बन्द हुआ करती।

भारत की इस परिस्थिति को तिलक ब्रिटेन को बताना चाहते थे। लायड जार्ज के और चैम्सफोर्ड के विपरीत विचारों को ब्रिटेन की जनता को दिखाना चाहते थे। उन्होंने कितनी चेष्टा की कि कांग्रेस अपना मंडल विलायत भेजे पर असफल रहे। उन्होंने भरसक प्रयत्न किये कि होम रूल का ही मंडल विलायत चल

जाय पर ब्रिटेन के मन्त्रिमंडल ने इन्कार कर दिया। तब हार कर तिलक ने लायड जार्ज को तार दिया कि "भारत युद्ध के लिये ५ या १० लाख युवक दे सकता है यदि यहाँ के युवकों को यह बताया जा सके कि वह एक ऐसे सिद्धान्त के लिये नहीं लड़ रहे हैं जिसे भारत पर लागू करने में ब्रिटेन डरता है।"

सरकार तिलक को विलायत जाने से रोक सकती थी, पंजाब में आने से रोक सकती थी। पर काम करने वाले के लिये ज़मीन की क्या कमी। तिलक ने पंजाब को छोड़, बाकी पूरे देश का दौरा किया। कलकत्ता, दिल्ली, मथुरा, नागपुर, आकोला, गोडहरा, सूरत, जलगाँव, धूलिया, शोलापुर, बेलगाँव, थाना, सतारा आदि स्थानों पर बहुत ही जोशीले भाषण दिये। इस बीच में उन्होंने सौ से अधिक भाषण दिये और हर सभा के श्रोता चार हज़ार से बीस हज़ार तक थे। उनका संदेश था—

"तुम अपने को होम रूलर कहने को तैयार रहो। यह कहो कि तुम होम रूल लेकर रहोगे और मैं यह कह सकता हूँ कि जब तुम तैयार रहोगे तो लेकर ही रहोगे। मैं समझता हूं इस विश्वास को लेकर तुम अपना लक्ष्य एक या दो वर्ष में पूरा कर लोगे।"

तिलक जनता के पास गये। विद्यार्थी, मज़दूर और किसान को अपना संदेश दिया। सोये हुए भारत को उन्होंने जगाया। राष्ट्रीय भावनाओं को उद्दीप्त किया। होम रूल की मांग की। जितनी यह मांग बढ़ी उतना ही पुलिस का अत्याचार बढ़ा।

तिलक उन लोगों से असहमत थे जो आवेदन पत्र द्वारा मिसेज़ बेसेन्ट को जेल से मुक्त कराना चाहते थे। वह कहते थे कि हम सत्याग्रह से सरकार को रास्ते पर ला सकते हैं। उन्होंने कहा—"यदि आप लोग यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उनके लिये आप में कितनी श्रद्धा है तो हमें उन्हें कांग्रेस के आगामी अधिवेशन का सभापति चुन लेना चाहिए।"

मिसेज़ बेसेन्ट का सभापति चुना जाना नरम दल की नीति के विरुद्ध था, कारण वे सरकार की आँख में खटकती थीं। और नरमदल वाले किसी ऐसे व्यक्ति को सभापति नहीं बनाना चाहते थे जो सरकार की आँख में खटके। इस समय एकता का सूत्र टूटने वाला था। पर मोन्टेगू की सुधार की घोषणा ने सारा दृश्य बदल दिया।

भारत की बेचैनी ने तथा महायुद्ध की घटनाओं ने सरकार को रास्ते पर ला दिया। मेसोपोटेमिया का आक्रमण असफल रहा। मोन्टेगू ने सैक्रेटरी आफ स्टेट चेम्बरलेन की नीति की बुरी तरह से धज्जियाँ उड़ाईं। उन्होंने कहा कि इनकी इस नीति के कारण ही इस महायुद्ध में हमें भारतवर्ष से सेना और सहायता कम मिली है। उन्होंने ब्रिटेन की लोक सभा में कहा—

"आज के युग के लिये भारत सरकार उपयुक्त शासन चलाने के लिए अत्यन्त निष्करुण, अत्यन्त निर्जीव, अत्यन्त कठोर एवं अत्यन्त रूढ़िवादी है।"

जिस किसी ने सत्य का सहारा लेकर आवाज़ ऊँची की, उस

की आवाज़ की गूँज सर्वत्र फैल गई। फलतः चेम्बरलेन को इस्तीफा देना पड़ा, और मोन्टेगू सेक्रेटरी आफ स्टेट हो गये। उस समय वे केवल ३६ वर्ष के थे। २० अगस्त १९१७ को उन्होंने सुधार की घोषणा की जिससे देश की विचारधारा गड़बड़ा गई। इस घोषणा में कहा गया—

"ब्रिटिश सरकार की यह नीति रही है, जिससे कि भारत सरकार सहमत है, कि भारतीयों को शासन में अधिक से अधिक हाथ दिया जाय और आप राज्य करने में विश्वास करने वाली संस्थाओं को क्रमशः बढ़ावा दिया जाय जिससे भारतीयों का ही शासन भारत में हो सके। सरकार ने इस ओर बढ़ने का निश्चय कर लिया है।"

२० अगस्त की इस नई घोषणा से मिसेज़ बेसेन्ट आदि सब १६ सितम्बर को छोड़ दिये गये।

अंग्रेज़ भारतीयों के साथ उठने-बैठने में, मिलने-जुलने में, खाने-पीने में अपना अपमान समझते थे। इस को लक्ष्य करते हुये मोन्टेगू अपनी डायरी में लिखते हैं:—"मैं फिर कहता हूँ कि यह सामाजिक प्रश्न, यह समस्या कि गोरे अफसर भारतीयों के साथ काम करने को तैयार हैं पर खेलने के लिये नहीं, यह समस्या कि इन बॉक्स में बैठने वालों को इन भारतीयों से किसी प्रकार का सरोकार नहीं है—इन बातों से ही आज यह राजनैतिक परिस्थिति आ पहुँची है।"

मोन्टेगू जब भारत आये थे तो उन्होंने यह डायरी नित्य प्रति

दिन बैठकर यहीं भारत में लिखी थी। इससे उस समय की गति को, उस समय के वातावरण को, उस समय के रंग-ढंग को समझने में हमको और आपको सुविधा होती है। इससे हम उस समय की ब्रिटिश नीति को आंक सकते हैं, वायसराय और भारत-सरकार के हृदय में झांक सकते हैं।

भारत से प्रभावित होकर मोन्टेगू अनायास कह उठे—

"मेरी यह इच्छा थी कि लायड जार्ज यहाँ होते, कुल ब्रिटिश मंत्रिमंडल यहाँ होता, एसक्वीथ यहाँ होते। यह भारतवर्ष का अभाग्य है कि मैं यहाँ अकेला हूँ, एक ऐसा अकेला जिसे यह कार्य अकेला करना है।"

इन शब्दों में तरह तरह के भाव चीत्कार रहे थे। इन में उभरी पड़ी ब्रिटिश कूटनीति दिखाई दे रही थी, भारत के राष्ट्रीय भावों का वेग दीख रहा था, असमंजस में पड़ा मोन्टेगू सामंत-शाही की असफलता और अपूर्णता को छिपाने का भगीरथ प्रयत्न करता दिखाई दे रहा था। और दिखाई दे रहा था मोन्टेगू के मस्तिष्क का अन्तर्द्वन्द। वह ब्रिटेन का होकर रहे या अपनी आत्मा का? क्या वह ब्रिटेन के नाम पर साम्राज्यवाद को बढ़ावा दे?? क्या वह यह झूठ कहता रहे कि भारत अभी स्वायत्त शासन के योग्य नहीं है जबकि वह स्वाधीन होने के योग्य है???

भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफर्ड से दो दिन बातें करने के बाद मोन्टेगू पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन उन्होंने बड़े अनोखे ढंग से किया है। जब उन्होंने चेम्सफर्ड के मस्तिष्क के

पर्त खोले तो उसमें साम्राज्यवाद को पैर फैलाये पड़े देखा। वह लिखते हैं:-"वायसराय के पद के लिये यह व्यक्ति हर प्रकार से अनुपयुक्त है—यह विचार मेरे मस्तिष्क में प्रतिदिन, प्रतिघंटे आ रहा है—पर यह सच कहना व्यर्थ है क्योंकि कोई मेरे इस कथन पर क्यों कर विश्वास करने लगा। यह गलत ढंग से आया है। पर इसके लिये लार्ड चेम्सफर्ड को दोष देना व्यर्थ है—केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इस मिट्टी से वायसराय नहीं बन सकते। यह यहाँ की समस्या को गलत ढग से देखते हैं। इन्हें जो काम कहा जाता है, वही करते हैं। यह फाइलों में चलते रहते हैं, कायदे कानूनों को सोचते रहते हैं। राजनीति की प्रेरणा जैसे उनमें है ही नहीं। लोकसभा में अपने प्रतिनिधि की मांग करना—ऐसे विचार उनके दिमाग में आ ही नहीं सकते। प्रेस को खुश रखना जैसे उनका काम ही नहीं। ..... मैं फिर कहता हूँ कि लोगों से न मिलने-जुलने के कारण ही हम इस राजनैतिक दलदल में फँसे हैं।"

वायसराय के लिये इतनी बातें कहीं तिलक लिख देते तो उन के लिये जेल का द्वार खुल जाता कालेपानी भेजने की आज्ञा हो जाती। उनको खूंखार और खतरनाक समझा जाता। ब्रिटिश सरकार को उनके मुँह से बगावत की बू आने लगती। वायसराय के होश गुम हो जाते और विलायत में मंत्रि-मंडल पसीने पोंछने लगता। मैं पूछता हूँ जब शिवाजी उत्सव के व्याख्यान केसरी में छापने के कारण तिलक पर राज-द्रोह का

अभियोग चलाया गया, तो वैसा ही विचारों को जबान देने पर मोन्टेगू के साथ वैसे ही व्यवहार क्यों नहीं किया गया? जिन विचारों से प्रेरणा पाकर मोन्टेगू ने वायसराय पर जमी हुई गर्द को झाड़ने की चेष्टा की, उन्हीं सद्विचारों को यदि तिलक जनता के सामने लाये तो क्या हुआ? शब्दों के अर्थ मनुष्य और मनुष्य के बीच अलग अलग नहीं हुआ करते। शब्दों की सीमा अभी इतनी संकुचित नहीं हुई! शब्दों की मर्यादा अभी नष्ट नहीं हुई!!

तिलक का मोन्टेगू पर क्या प्रभाव पड़ा? भारत के किसानों को और मज़दूरों को और विद्वानों को और विद्यार्थियों को मोहने वाला क्या मोन्टेगू को मोह सका? इस का उत्तर मोन्टेगू के मुख से ही सुनिये:—"२७ नवम्बर १९१७ को दोपहर के खाने के बाद हम तिलक से मिले—वह राजनीतिज्ञ जिसका सम्भवतः सबसे अधिक प्रभाव भारतवासियों पर है और जो अपने विचारों में सब से आगे बढ़े हुए हैं मुझ से मिलने के लिये जिस जुलूस के साथ दिल्ली तक आये वह उनकी अपूर्व सफलता का द्योतक था। वास्तव में वह कांग्रेस लीग योजना के लेखक थे। और यद्यपि वह अपने तर्क से मेरे ऊपर बहुत प्रभाव न डाल सके पर वह एक वैज्ञानिक व्यक्ति थे, एक बहुत बड़े विद्वान थे जिनके पीछे वर्षों की साधना थी।"

जब जब मोन्टेगू अपनी आत्मा की आवाज़ को सुन कर बोले, उन के मुख से सत्य फूट पड़ा, हृदय को स्पर्श करने वाली

सीधी-सच्ची बातें निकलीं। उस समय ऐसा लगता था जैसे कोई भारत का क्रान्तिकारी बोल रहा हो। सत्य तो सूर्य की तरह प्रचण्ड है। यह जहाँ कहीं फूटा है अपनी किरणों के साथ, अपने तेज के साथ। सत्य का असर ही कुछ और होता है। इसके सामने सारा पाखंड, सारी बनावटी बातें, सारा ज़ोर-शोर धरा रह जाता है। ऐसे अवसर, ऐसे क्षण ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के जीवन में कितनी ही बार आये थे पर ब्रिटिश इतिहासकारों ने इन क्षणों का अपने इतिहास में कभी समावेश नहीं किया। इस से भारत का इतिहास वीरता और उसकी गोद में छिपी पाशविक घटनाओं का संग्रह मात्र बनकर रह गया। इस इतिहास से पाशविक वृत्ति को उत्तेजना मिली, स्फूर्ति मिली और मानवीय वृत्ति दुबक कर, सिमट कर बैठ गई। उदार भावों में निहित सत्य को तोलने को कोई राज़ी ही न होता था। ब्रिटिश इतिहासकार घटनाओं का मूल्य आंकने में सदा स्वार्थ का, सामंतशाही का पसंगा लगाये रहते थे। वे क्षण—वे सत्य से उद्दीप्त क्षण—इस तराज़ू पर चढ़ जाते थे ठीक उसी तरह जैसे बकरा बलि की वेदी पर चढ़ जाता है।

यह क्षण मोन्टेगू के भारतवर्ष आने पर कई बार उन के सामने आये थे। इसी एक क्षण में उन्होंने कहा—"मैंने अपने सुभाव में यह बात रक्खी कि हमें सच्चाई से इस काम में आगे बढ़ना चाहिये। यह ठीक नहीं कि हम एक हाथ से जो कुछ दें, दूसरे हाथ से उसे लेकर भारतवासियों को धोखा दें।"

मोन्टेगू के भारत आने पर देश में, देश के नेताओं में,

नेताओं की विचारधारा में एक संभ्रम फैल गया। बढ़ता हुआ राष्ट्रीय आंदोलन एक साथ रुक गया। सब अपनी मांग लेकर आ गये।

ब्रिटिश नीति—वैमनस्य उत्पन्न कर शासन करो—इस नीति की सफलता आज दृष्टिगोचर हो रही थी। बड़े बड़े राजे और नवाब, राजनीतिज्ञ और देशभक्ति इस ब्रिटिश जाल में फंस गये। अविश्वासी ब्रिटेन का आज वे विश्वास करने आये थे। इन भारतवासियों को आज आपस में लड़ा कर ब्रिटेन हँस रहा था, कहकहे मार रहा था। इनके राष्ट्रीय-वेग को वैमनस्य के रेगिस्तान में ले गया। वहाँ उसे सूखने को छोड़ दिया। वेग के खत्म होने पर नदी में रह ही क्या जाता है—थकी माँदी एक धार। इस राष्ट्रीय धारा को भी खींचने के लिये ब्रिटेन का तपता हुआ सूर्य अत्याचारों की सहस्त्र किरणों से फिर ऊपर आ गया। जनता का शोषण हुआ। दुखरो पड़ा।

इस समय ब्रिटेन दो तलवारों से लड़ रहा था। एक ओर चेम्सफर्ड के अत्याचार चल रहे थे, दूसरी ओर मोन्टेगू की योजना। इस योजना में बीच का समय ६ वर्ष रक्खा गया। इन ६ वर्षों में स्वायत्त शासन दे दिया जायगा। बारह वर्ष बाद बाकी सब जिम्मेदारी दे दी जायगी।

२७ अप्रैल १६१८ को भारत सरकार ने दिल्ली में एक सम्मेलन किया। इसमें नेता भी बुलाये गये और सरकारी अफसर भी। गांधी जी को भी बुलाया। यदि किसी की अनुपस्थिति सब

को खटक रही थी तो वह थे तिलक। गांधी जी ने इस जान बूझ कर की हुई भूल पर उँगली उठाई। मोन्टेगू ने इस भयंकर भूल पर खेद प्रकट किया, अपनी खिन्नता दिखाई। उन्होंने लिखा—

"यदि मैं वायसराय होता तो तिलक को दिल्ली हर कीमत पर बुलाता। वह इस समय संभवतः भारत में सब से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति हैं। और उनके हाथ में यह भी है, यदि वह चाहें, इस महायुद्ध में वास्तव में वह हमारी सहायता कर सकते हैं।"

कितना अच्छा हुआ होता यदि मोन्टेगू यही कह कर चुप हो गये होते। उनके पवित्र विचार कलंकित होने से बच जाते। उन की उदार आत्मा कलुषित होने से बच जाती। अंग्रेज हमारे श्रद्धा के पात्र बने रहते। इतनी जल्दी हमारा उन पर से विश्वास तो न उठ जाता। केवल स्वार्थ पर फूलने वाले कुछ क्षण को तो ठिठक जाते। पर मन की मुराद किस की पूरी हुई। मोन्टेगू ने अपना किया-कराया आप लीप-पोत दिया जब उन्होंने कहा—

"यदि मैं अपनी योजना में असफल भी होता हूँ तो मैंने क्या किया? मैंने भारत को महायुद्ध के इन संकटकालीन ६ महीनों में शान्त रक्खा। मैंने राजनीतिज्ञों को अपनी योजना के अतिरिक्त किसी और चीज़ पर सोचने का अवसर ही नहीं दिया।"

कितना बड़ा धोखा? कैसी विडंबना?? स्वार्थ और देश के दम्भ ने आखिर उसे जकड़ ही लिया। क्या अपने आपको झूठी

सांत्वना देने के लिये इससे भी सस्ता और निकम्मा कोई बहाना हो सकता था ? यदि भारतवासियों को ६ महीने शान्त ही रखना था तो इतने बड़े पैमाने पर हृदय को स्पर्श करने वाला यह स्वांग क्यों रचाया ?? मोन्टेगू को क्या हक था कि भारत की इन उत्तेजित उमंगों के साथ इस तरह खेले ??? भारत इस के लिये उसे कभी क्षमा न करेगा।

टैन्डूलकर अपने बृहत् ग्रंथ 'महात्मा' में लिखते हैं :—

"यदि कोई नेता ऐसा था जिसके प्रोग्राम में मोन्टेगू की घोषणा और उनके भारत आने से कोई हेर-फेर न हुई थी तो वह केवल तिलक थे। वह लोगों में जागृति लाते रहे, कांग्रेस लीग की मांग को समझाते रहे।"

यह शब्द तिलक की दूरदर्शिता के द्योतक हैं। गोधरा में गांधी के सभापतित्व में जो सभा हुई उस में तिलक ने एक बहुत ही जोशीला भाषण दिया। होम रूल उन का विषय था—

"सामंतशाही का कहना है कि उस ने भारतवर्ष को वैभवशाली बनाया। मैं इसे मानने को भी तैयार हो जाता पर तथ्य इस के विरुद्ध हैं। मैं यह जानना चाहता हूँ कि इन सौ वर्षों में भारतवर्ष में लोगों को औद्योगिक बनाने में या अपने पैरों खड़ा करने में क्या किया है।"

दिसम्बर में हुई कलकत्ता कांग्रेस में भी तिलक ही सब के ऊपर छाये हुए थे। उन्होंने मिसेज़ बेसेन्ट का नाम सभापति के लिये प्रस्तावित किया और वह सभापति चुन ली गईं। यह

तिलक की, उनके सिद्धान्तों की विजय थी इस चुनाव में कवीन्द्र रवीन्द्र उनके साथ थे। इस चुनाव में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उनके विरुद्ध थे। इस चुनाव में दोनों होम रूल की संस्था एक हो गई थीं।

इधर तिलक होम रूल लोग के मंडल के लिये चन्दा एकत्रित कर रहे थे उधर सरकार नरमदल को तोड़ने की चेष्टा कर रही थी। सरकार ने नरमदल वालों के मस्तिष्क में यह भर दिया कि जो कुछ भी सुधार योजना हो उसे यह लोग मान लें। सरकार अपनी उधेड़बुन में सफल हुई। नरमदल वाले थोड़े से लोभ के लिये सरकार की ओर चले गये। एकता कांप उठी। कांग्रेस विचलित हो उठी। मोन्टेगू ने अपनी योजना के लिये नरमदल में से ऐसे व्यक्ति छांट लिये जो मिनिस्टर होने को तैयार थे। इस प्रकार मोन्टेगू को इस नाटक के अभिनय के लिये भारतीय पात्र भी मिल गये।

१९१७ में जब कि तिलक और मिसेज़ बेसेन्ट अपने होम रूल के आन्दोलन में लगे हुए थे, गांधी, राजेन्द्र बाबू, अनुग्रह बाबू कृपलानी आदि को लेकर चम्पारन के नागरिकों की शिकायतों की छानबीन करने चल दिये। अप्रैल १९१७ में वह मोतीहारी पहुँचे। वहीं उन्हें एक आज्ञा-पत्र मिला जिस में उस ज़िले को तत्काल ही छोड़ने की आज्ञा हुई। गांधी ने इस आज्ञा की अवज्ञा की, कैसरे हिन्द का स्वर्ण पदक वापस कर दिया और एक मैजिस्ट्रेट के सामने खड़े हो गये। उन्होंने अपनी गलती

मानते हुए वह बयान दिया जिसे आज सभी भारतवासी जानते हैं, सरकार को अपनी आज्ञा वापस लेनी पड़ी और गांधी को उनकी जांच करने दी।

कुछ समय के लिये तिलक लोगों को भर्ती करने में लग गये। उन्होंने गांधी जी के पास पचास हज़ार रुपये का एक चैक भेजा। उन्होंने महाराष्ट्र से ५००० जवानों को युद्ध में देने का वचन दिया यदि गांधी जी भारत सरकार से यह वचन ले लेते कि अफ़सरों की नियुक्ति में भारतीय भी आ सकेंगे। गांधी जी का कहना था कि यह सहायता सौदे के रूप में नहीं होनी चाहिये इस लिये उन्होंने वह चैक लौटा दिया।

तिलक जानते थे कि सरकार उन में और गांधी में, गांधी में और मिसेज़ बेसेन्ट में, मिसेज़ बेसेन्ट में और उनमें, यानी कि एक दूसरे में फूट डालना चाहती है।

तिलक ने गांधी को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने उन से कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित होने को कहा। गांधी ने इस पत्र का उत्तर २५ अगस्त १६१८ को दिया—

"मैं कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित नहीं होना चाहता। और न मैं नरमदल की सभा में ही सम्मिलित होना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरे विचार दोनों से भिन्न हैं।"

गांधी की स्थिति उस समय गरम दल और नरम दल के बीच ऐसी थी जैसी आज नेहरू की रूस और अमरीका के बीच। इन के विचार इन दोनों से अलग थे फिर भी नेहरू

की तरह वह इन दो महान शक्तियों से अलग भी नहीं होना चाहते थे। आखिर गांधी तिलक की तरफ़ बढ़े जैसे नेहरू रूस की तरफ़। तिलक सत्याग्रह में विश्वास न करते थे फिर भी गांधी उनकी ओर बढ़े, नेहरू कम्यूनिज्म में विश्वास नहीं करते फिर भी वह रूस की ओर बढ़े। राजनीति के जोड़ भी बेजोड़ होते हैं।

जुलाई १६१८ में मोन्टेगू-चेम्सफर्ड योजना प्रकाशित हो गई। इस योजना से नरमदल वाले सरकार के पक्ष में आ गये। मोन्टेगू का स्वप्न सच्चा हुआ। ब्रिटिश नीति सफल हुई। गरम दल और नरम दल अलग हो गये। तिलक ने इस योजना के बारे में कहा—

"यह एक अच्छी रिपोर्ट है जिसमें बेकार योजना है।" उन्होंने इस की तुलना 'बिना सूर्य के ऊषा' से की।

तिलक और मिसेज़ बेसेन्ट अपने होम रूल के मंडल को विलायत भेजना चाहते थे, जिससे कि भारत के विरुद्ध जो विषैला वातावरण किया जा रहा था उसके विरुद्ध आवाज़ उठा सकें। तीन सप्ताह के छोटे से समय में तिलक ने तीस स्थानों में भाषण दिये और अपने मंडल के लिये डेढ़ लाख रुपया एकत्रित किया। मोटर से एक हजार मील का दौरा किया और इतना ही रेल से। पर अब पहले जैसी बात न थी। बूढ़ी हड्डियाँ तिलमिला जाती थीं। एक बार थकान के समय उन्होंने कहा—

लोग कभी नहीं समझ सकते कि अब मैं शिथिल हो चला

हूँ। जब वह क्षण आता है मैं भाषण देने खड़ा हो जाता हूँ। मैं बोलता रहता हूँ पर शरीर शिथिलता से चूर रहता है। भाषण समाप्त होते ही मैं भीड़ से हट जाता हूँ और अपनी थकान पर सो जाता हूँ।"

वह एक धनी की अपेक्षा अनेक निर्धनों से थोड़ा थोड़ा चन्दा एकत्रित करने के पक्ष में थे—

"मैं ६४ पैसे इतने ही मनुष्यों से लेना पसन्द करूँगा इसकी अपेक्षा कि एक रुपया एक से लूँ।"

अगस्त १९१८ में तिलक के पास फिर एक सरकारी आज्ञा पत्र आया जिससे बिना जिलाधीश की आज्ञा के वह कहीं भाषण न दे सकते थे।

१९१८ में कांग्रेस का अधिवेशन दिल्ली में हुआ। उसने एक प्रतिनिधि मंडल बनाया जो वायसराय से मिलकर इस बात पर जोर दे कि तिलक और बिपिन चन्द्र पाल को पंजाब और दिल्ली प्रान्तों में न जाने की जो सरकारी आज्ञा हुई है, वह रद्द कर दी जाय।

१९१८ की दिल्ली की कांग्रेस में भी तिलक के शब्द गूँजते ही रहे। इन्होंने इस कांग्रेस में अन्त में कहा—

"हमें बताया गया था कि कांग्रेस मोन्टेगू योजना को अस्वीकार करने वाली है। मेरी कभी समझ में न आया और न आ सकता है कि ऐसा करने का क्या अर्थ है। हम अपने सन्धि-प्रस्तावों के बीच में हैं। यदि आपने यह योजना

अस्वीकार कर दी, तो बात खत्म हो गई। क्या आप ब्रिटेन की जनता को यह बताने जायेंगे कि आपने यह योजना ठुकरा दी है। मेरी समझ से हमने काफी राजनीति पढ़ ली है यह समझने के लिये कि ऐसी परिस्थिति लाना गलत है। "......मोन्टेगू रिपोर्ट एक सुन्दर, बुद्धिमता पूर्ण और नीतियुक्त है। हमने आठ आने भर स्वायत्त शासन मांगा, रिपोर्ट हमें एक आना भर उत्तर-दायी स्वायत्त शासन देती है और कहती है कि यह आठ आने भर स्वायत्त शासन से अच्छा है। रिपोर्ट की सम्पूर्ण साहित्यक कुशलता इस में है कि हमें यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की जा रही है कि उत्तरदायी शासन का एक टुकड़ा हमारे स्वायत्त शासन की भूख को मिटाने को पर्याप्त है। हम अब सरकार से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि हम इस एक आना भर उत्तरदायी शासन के लिये तुम्हें धन्यवाद देते हैं पर हम अपनी मांग में कांग्रेस-लीग के पास हुए सब प्रस्ताव नहीं लायेंगे फिर भी इससे रेल की पटरी चाहे दूसरी हो, डिब्बे इन नई पटरियों पर वही पुराने होंगे।"

इन शब्दों के पीछे एक राजनीतिज्ञ बैठा था। भारत की राजनीति को बल मिला। इस बूढ़े राजनीतिज्ञ में देश के प्रति उमंगें थीं, स्फूर्त्ति थी। अटूट साहस था, बल था। उस महायुद्ध के समय में ६१ वर्ष की अवस्था में भी वह उस खतरे से भरे हुए समुद्र पर लम्बी यात्रा करने में हिचकते न थे। अप्रैल के प्रथम सप्ताह में वह और उन के मित्र विलायत जाने वाले थे। उनको

पासपोर्ट मिल गये पर विलायत के मंत्रिमंडल की आज्ञा से वे रद्द कर दिये गये।

इसी बीच तिलक ने सर वेलंटाइन चिरोल के विरुद्ध जो अभियोग चलाया था, वह अभी लटका हुआ था। यह देखकर कि मुकदमा टल नहीं सकता, सरकार को तिलक को विलायत जाने की आज्ञा देनी ही पड़ी। पर सरकार ने उनके मुँह पर हाथ रखने की कोशिश की जिससे वह बोल न सकें। उनसे यह वचन ले लिया गया कि वह विलायत में किसी भी सभा में भाषण न देंगे। सरकार को यह सोचना था कि तिलक को यदि खामोश होकर बैठना था तो क्या वह खामोश होने के लिये विलायत तक जाते।

नीति बड़ी या न्याय

अगस्त १९१८ में तिलक लंदन को रवाना हुए। पहले उन्होंने उस सरकारी आज्ञा को रद्द कराया जिस के अनुसार वह किसी सभा में कोई भाषण नहीं दे सकते थे। लंदन पहुँच कर उन्होंने श्रमिक वर्ग के नेताओं से मैत्री की।

ब्रिटिश सरकार तिलक से डरती थी और उनसे घृणा करती थी। उसने उन्हें काला चित्रित करने की चेष्टा की। सरकार के अनुमान के विरुद्ध तिलक की ख्याति बढ़ती गई। जब वह विलायत जा रहे थे तभी वह आगामी कांग्रेस अधिवेशन के सभापति चुन लिये गये। उनकी अनुपस्थिति में कांग्रेस का अधिवेशन दिल्ली में पंडित मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व में हुआ।

तिलक जानते थे कि अन्य राष्ट्रों के सामने सिर ऊँचा रखने के लिये ब्रिटेन-मोन्टेगू कुछ देना चाहता है, फिर ज्यादा क्यों न मांगा जाय। इसी बात को विट्ठल भाई पटेल दूसरे ढंग से लिखते हैं:—"लोकमान्य कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं देते थे वह भारत की मांग को ब्रिटेन की जनता और संसद के सामने रखने में नये अवसरों को जन्म देते थे। एक बार तो लोकमान्य ने मुझे अपने घर बुलाया और कहा—"पटेल यदि भारत की जनता की ओर से कांग्रेस मंडल ब्रिटिश सम्राट को शान्ति स्थापना के संबंध में बधाई का एक मानपत्र भेंट करे तो

कैसा हो ?"

मैंने तत्काल ही कहा कि ऐसा करना बेकार है। इस पर लोकमान्य बोले-'प्रिय पटेल, हम जो कुछ भी मान पत्र में कहना चाहेंगे लिख देंगे और शासकों को कम से कम यह पढ़ना तो पड़ेगा ही। तब लोगों को मालूम होगा कि हम लोग यहाँ क्यों आये हैं और क्या चाहते हैं। अपनी मांग आगे बढ़ाने में हमें किसी भी अवसर को हाथ से नहीं छोड़ना चाहिये।"

(३-८-१६५१ के 'मराठा' से)

देश के लिये ऐसी लगन थी लोकमान्य की !

आज हमारी कांग्रेस सरकार भारत में जिस समाजवाद को लाने के लिये वचन बद्ध हुई है उस का स्वप्न, उस का स्वरूप तिलक आज से ४० वर्ष पूर्व देख चुके थे। लैन्सबरी कहते हैं:—"मैं यह नहीं मानता हूँ कि वह ब्रिटिश जाति या किसी भी जाति के शत्रु थे। वह हम से जो कुछ मांगते थे वह एक बहुत ही सीधी और न्याययुक्त मांग थी जिसका वास्तव में यह अर्थ था कि हम दूसरे के लिये वही करें जो कि हम चाहते हैं कोई हमारे लिये करे।"

विलायत में मजदूरों की एक बहुत बड़ी सभा में उन्होंने कहा—'भारत में हज़ारों मजदूर ऐसे हैं जिनका शोषण भारत के लाभ के लिये नहीं, दूसरे देशों के लाभ के लिये किया जा रहा है।......संभवतः तुम्हारा भी शोषण किया जा रहा है लेकिन अपनी ही जाति द्वारा, पर हम एक विदेशी सत्ता द्वारा

शोषित किये जाते हैं।

विलायत में तिलक का अधिक समय चिरौल के अभियोग में लगा। यह अभियोग क्यों चला? १९१० में लंदन के समाचार पत्र 'टाइम्स' ने सर वैलंनटाइन चिरौल को भारत में भेजा कि वह वहाँ की अशान्ति के बारे में भारत में दौरा करके अपने विचार लिखे।

चिरौल ने यह रिपोर्ट भेजी कि भारत में चेतना नाम मात्र को नहीं आई। कुछ हिन्दू जो कि महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, बंगाल तथा पंजाब में हैं उन्होंने यह शोर मचा रक्खा है और इनको दमन नीति से समाप्त कर देना चाहिए। यह अत्याचार उसी अर्थ में पाशविक है जिस अर्थ में डाक्टर शरीर के सड़े हुए भाग को काटने में पाशविक होता है। चिरौल ने 'भारतीय अशांति' नामक पुस्तक लिखी जिससे वह तिलक और उनके गरमदल को संसार के सामने नीचा दिखाना चाहता था।

भारत और विलायत में वकीलों से सलाह लेने के बाद तिलक ने अभियोग चलाया। २९ जनवरी १९१९ को न्या० डार्लिंग और विशेष जूरी के सामने यह मुकदमा शुरू हुआ। सर सिमन और स्पैन्स तिलक के वकील थे और सर कारसन चिरौल के। तिलक का आरोप था कि चिरौल ने ६ अलग अलग तरीकों से उन्हें बदनाम करने की चेष्टा की है।

सर सिमन की पहली स्पीच ६ घण्टे तक हुई। स्पैन्स ने तिलक से प्रश्न किये फिर सर कारसन ने तिलक से जिरह की।

कारसन ने केसरी के उद्धरण पढ़े और उलट-पुलट कर टेढ़े में प्रश्न करना आरम्भ किया। चलिये न्यायालय में चलें—

"कारसन—यह सच है कि सरकार के विरुद्ध तुमने लोगों को उभारा था ?

तिलक—नहीं मैंने सरकारी अफ़सरों का विरोध करने के लिये कहा था। मैं दोनों में काफ़ी अन्तर मानता हूँ।

कारसन—सरकार अफ़सरों से ही बनती है, क्यों ?

तिलक—एक घर कमरों का बना होता है पर एक कमरे का अर्थ तो घर नहीं होगा। (हँसी)

× × × × ×

कारसन—टाइम्स आफ़ इन्डिया का कथन है कि तुम्हारे पत्र द्वारा रैन्ड की हत्या हुई ? यह ठीक है न।

तिलक—हाँ।

कारसन—तुमने उस समाचार पत्र के विरुद्ध कोई कार्यवाही क्यों नहीं की ?

तिलक—मैं इसी कार्य के लिये बम्बई गया था, पर मैं उसी दिन गिरफ्तार कर लिया गया इस लिये मैं कुछ न कर सका।

कारसन—जब तुम जेल से बाहर आये तो तुमने कोई कार्यवाही क्यों नहीं की ?

तिलक—मैंने की थी और मुझ से उस समाचार पत्र ने क्षमा मांगी।

× × × × ×

जज—क्या तुम्हारे विचार में रैंड अत्याचारी था ?

तिलक—मैंने यह कहा था कि उसके कार्य अत्याचार से भरे हुए थे।

जज—क्या तुमने यह कहा था कि वह कठोर अत्याचार करने वाला पापी था ?

तिलक—हाँ।

जज—फिर भी तुम कहते हो कि तुम्हारे लेख से उस की हत्या का कोई संबंध न था।

तिलक—उस के कार्यों से, न कि मेरे लेख से, उस की हत्या हुई।

× × × × ×

जज—शिवाजी ने सब से अच्छा क्या कार्य किया था ?

तिलक—उन्होंने हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की।

जज—क्या उन्होंने यह अफजल खाँ को मार कर किया ?

तिलक—यह उनके अनेक कार्यों में से एक कार्य था।

जज—क्या वह बिना इस के भी कर सकते थे ?

तिलक—मैं यह नहीं कह सकता। मान लीजिए कि हम यहाँ क्रौमवैल का उत्सव मना रहे हैं। इसके यह माने तो नहीं कि हम ब्रिटेन के सम्राटों का खून करने जा रहे हैं।"

२१ फरवरी १६१६ को ६ बजे शाम को जूरी परामर्श करने गये और आध घण्टे में वापस आगए। फैसला तिलक के विरुद्ध हुआ। तिलक को ब्रिटिश न्याय पर विश्वास था इस लिये इस न्याय पर उन्हें आश्चर्य हुआ।

इस मुकदमे के कारण तिलक लगभग तीन लाख रुपये के

कर्ज में आगये। ब्रिटिश न्याय से उन्हें एक धक्का लगा। वह स्थिर रहे। यह न्याय भी नीति पर चलने लगा था। उनके साथी बैरिस्टर बैपटिस्टा ने बाद में अहमदनगर की एक सभा में बताया था कि जब उन्हें ब्रिटिश न्याय से न्याय नहीं मिला तो वह उस दिन दुखी रहे, पर दूसरे दिन ही बोले – "फिर भी ब्रिटिश न्याय सस्ता है। जूरी के निर्णय की कीमत तीन लाख रुपये है। पर ब्रिटिश राजनीति महंगी है। ब्रिटेन के निर्णय की कीमत कम से कम तीन करोड़ रुपये है।"

१९१८ में ब्रिटेन का आम चुनाव था। तिलक को अवसर मिला। उन्होंने इस अवसर पर ब्रिटेन की जनता को, वहाँ के स्त्री-पुरुषों को भारत की समस्यायें बताना आरंभ किया। उन्होंने अपने चार वक्तव्य प्रकाशित किये जिस की सहस्रों प्रतियाँ जनता में बांट दीं। उनके आत्म निर्णय के वक्तव्य को लोगों ने बहुत पढ़ा। उसी प्रकार शांति सभा के सभापति के नाम आवेदन पत्र की लाखों प्रतियाँ बँट गईं।

तिलक ३० अक्टूबर १९१९ को भारत को चल दिये और २७ नवम्बर १९१९ को बम्बई में आगये। महीने भर बाद अमृतसर कांग्रेस का अधिवेशन था।

राष्ट्र का तीर्थ—जलियाँवाला बाग

६ फरवरी १६१६ को सर विलियम विन्शैन्ट ने सर्वोच्च विधान समिति में रौलेट रिपोर्ट को रौलेट एक्ट के रूप में लाने की घोषणा की। गांधी जी ने इस पर यह घोषणा की यदि यह बिल लाने की कोशिश की गई तो वह सत्याग्रह द्वारा इस परिस्थिति का मुकाबला करेंगे। उन्हें अपने सत्याग्रह पर विश्वास था। १८ मार्च को उन्होंने एक शपथ ली जो इस प्रकार थी—"यह बिल यदि कानून बन गया तो हम इस कानून को नहीं मानेंगे और इसके विरुद्ध चलने में हम सत्य और अहिंसा से ही काम लेंगे।"

सत्याग्रह से अपने आपको पवित्र करने की बात सुन कर राजनीतिज्ञ हँस पड़े। पवित्रता और राजनीति का क्या संबंध? ३० मार्च १६१६ को हड़ताल का दिन रक्खा गया। यह निश्चय हुआ कि इस दिन लोग उपवास करेंगे, प्रार्थना करेंगे और मीटिंग करेंगे। यह ६ अप्रैल १६१६ को स्थगित की गई पर इस की सूचना न मिलने से दिल्ली में हड़ताल हुई—गोली चली। दूसरे दिन के जुलूस के साथ स्वामी श्रद्धानंद थे। उन्हें जब गोली चलाने की धमकी दी गई तो उन्होंने अपना सीना आगे कर दिया और यह धमकी खत्म हो गई। पर दिल्ली स्टेशन पर कुछ झगड़ा हो ही गया। ५ व्यक्ति मर गये। २० घायल हुए। ६ अप्रैल १६१६ को मीटिंग और जुलूस

सारे देश में निकाले गये। इस जोशीले वातावरण में एक चीज साफ थी और वह थी हिन्दू मुस्लिम एकता।

अब भारत के संघर्ष और स्वतन्त्रता संग्राम का दृश्य पंजाब में होने जाता है। पंजाब में जनरल डायर ने निश्चय किया था कि कांग्रेस की आग को वह पंजाब में न फैलने देगा। डा० किचलू और डा० सत्यपाल अमृतसर में आगामी कांग्रेस के अधिवेशन का प्रबन्ध करने में लगे हुए थे। १० अप्रैल १९१९ को जिलाधीश ने उन्हें अपने घर बुलाया और वहाँ से वह ऐसी जगह भेज दिये गये जिसका किसी को पता न था। लोग व्यग्र हो उठे। वह जिलाधीश से पूछने उनके बंगले की ओर चल दिये। सेना तैनात थी। उसने लोगों को जाने से रोका। लोगों ने ईंट चलाईं। बदले में गोली चली। कुछ आदमी मरे। बहुत कुछ घायल हुए। भीड़ शहर को वापस आई और अपने साथ अपने घायल साथियों को लाई। जोश बढ़ना था, बढ़ा। रास्ते में नेशनल बैंक पड़ा—उस में आग लगा दी गई। और मैनेजर को खत्म कर दिया। १० अप्रैल को शहर सैनिक अधिकार में दे दिया गया—बिना ऊपर की आज्ञा लिये हुए।

गुजरान वाला में भीड़ ने एक रेलगाड़ी को घेर लिया। पत्थर फेंके। पुल जला दिया। तार घर, डाक घर, स्टेशन, डाक बंगला कचहरी, गिरजा और स्कूल जला दिये गये। पूरे भारत वर्ष में ऐसी ही घटनाएं हुईं। लाहौर में गोली चलाई गई। गांधी जी ८ अप्रैल को दिल्ली को चल पड़े। रास्ते में उन्हें आज्ञा मिली कि

वह दिल्ली या पंजाब नहीं आ सकते। पर गांधी ने इस आज्ञा को तनिक भी परवाह न की और वह चलते गये। परवल के स्टेशन पर उन्हें उतार लिया गया और वहां से दूसरी गाड़ी में १० अप्रैल को वह बम्बई भेज दिये गये।

गांधी की गिरफ्तारी का हाल सुन कर अहमदाबाद में झगड़े हुए जिसमें कुछ अंग्रेज और कुछ भारतीय अफसर मारे गये। कलकत्ते में भी ५-६ आदमी मारे गये और १२ घायल हुए। बम्बई पहुँच कर गांधी ने वहाँ लोगों को शान्त किया। इन झगड़ों के कारण उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें सत्याग्रह रोकने की अपील की।

उधर अमृतसर की दशा बुरी होती जा रही थी। वहाँ अभी सैनिक अधिनियम की सरकारी आज्ञा नहीं हुई थी यद्यपि वहाँ सैनिक अधिनियम १० अप्रैल से ही लागू था। सरकारी तौर से लाहौर और अमृतसर में सैनिक अधिनियम की घोषणा १५ अप्रैल को हुई। १३ अप्रैल को हिन्दुओं का नव-वर्ष था। एक बड़ी सभा जलियाँवाले बाग में हुई। यह शहर के बीच चारों ओर घरों की दीवार से घिरा हुआ एक मैदान है। इसका रास्ता बहुत ही संकीर्ण है जिसमें एक गाड़ी भी नहीं निकल सकती। सभा हो रही थी। हंसराज भाषण दे रहे थे। लगभग बीस हजार स्त्री, पुरुष और बालक भाषण सुन रहे थे। तभी जनरल डायर १०० भारतीय सिपाही और ५० ब्रिटिश सैनिकों को लेकर घुसा और भीड़ पर गोली चलाने की आज्ञा दी। हन्टर

कमीशन के सामने दिये हुए वर्णन में बाद में डायर ने कहा कि उसने पहले लोगों को तितर-बितर होने को कहा, फिर गोली चलवायी। पर उसने अपने बयान में यह माना है कि इस आज्ञा देने के दो तीन मिनट बाद ही उसने गोली चलाने की आज्ञा दी थी। यह सीधी सी बात थी कि बीस हज़ार व्यक्ति दो तीन मिनट में उस संकीर्ण मार्ग से किसी भी दशा में नहीं निकल सकते थे। १६०० बार गोलियाँ चलीं। और गोलियों का चलना तभी बन्द हुआ जब गोलियाँ खत्म हो गईं। सरकारी अनुमान से ४०० व्यक्ति मरे और हज़ार दो हज़ार घायल हुए। गोलियाँ भारतीय सैनिकों ने चलाई थीं जिनके पीछे अंग्रेज़ी दस्ते लगे थे। बात स्पष्ट थी। डायर को डर था कि अत्याचार होते देख कहीं भारतीय सैनिक उलटे न पड़ जांय, इस लिये उनके पीछे गोरे बन्दूकची बैठा रक्खे थे।

डायर के समय में अनेक पाशविक अत्याचार हुए। अमृतसर में बिजली और पानी काट दिया गया। खुले आम बेंत लगाना साधारण बात थी। पर उसके 'रेंग कर चलने' की आज्ञा के सामने सभी आदेश हलके पड़ गये। एक लेडी डाक्टर मिस शेरवुड जब एक गली से साइकल पर जा रही थीं तो लोगों ने उन पर आक्रमण किया। इस पर जितने लोग उस गली में रहते थे और जितने वहाँ चल फिर रहे थे—सब को पेट के बल चलने की आज्ञा हुई। यद्यपि उस गली में ऐसे सभ्य थे व्यक्ति जिन्होंने मिस शेरवुड को आक्रमणकारियों के हाथ से

खाया था।

कौन कौन से अत्याचार नहीं हुए। तीसरे दर्जे का टिकट मिलना बन्द होगया। दो आदमी से अधिक सड़क पर नहीं घूम सकते थे। जिन लोगों ने दुकानें बन्द कर दी थीं वह जबरदस्ती खोल दी गईं। चीज़ों के दाम सेना ने निर्धारित कर दिये।

२१८ व्यक्ति सैनिक कमिश्नर के सामने रक्खे गये। इनके क़ानून अलग थे, मनमाने थे। इन में से २१८ व्यक्तियों को सज़ा दी गई। ५१ को मौत की, ४६ को कालेपानी की, २ को दस साल की, और ७९ को सात वर्ष की।

जनरल डायर का यह घृणित कार्य ठीक बताया गया। डायर को तार मिला—"तुमने जो कुछ किया ठीक है। राज्यपाल उसका समर्थन करते हैं।"

यह सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे या यों कहिये कि एक ही थैली के सांप थे जो ब्रिटेन रूपी सपेरे के इशारे पर अपने अपने जौहर दिखा रहे थे। यदि कोई ब्रिटेन के दिल को चीर कर देखता तो न तो उस में कोई न्याय था, न कोई कानून। केवल एक हवस थी—एक भयानक हवस। भारत हाथ से न निकल जाय। इस सोने की चिड़िया को पिंजड़े में रखने के लिये वह सब कुछ करेगा—पंख कतर देगा, भूखा मार देगा, प्यासा रक्खेगा, पर रक्खेगा पिंजड़े में ही। ब्रिटेन नहीं जानता था कि यह भोली चिड़िया हाथ में चोंच भी मार देती है, मांस भी खींच लेती है। भोली-भाली जनता ने भी यही किया

अहिंसा के मानने वाले हिंसा पर उतर आये। डाकखाने लूटे गये। तार काट दिये गये। रैल की पटरी उखाड़ दी गई।

ब्रिटेन के कानून के पिटारे में तरह तरह के जुल्म भरे पड़े थे। यह कानून के पिटारे भी सौ तरह तरह के थे। एक अपने देश के लिये और दूसरा भारत सरीखे गुलाम देशों के लिये। कितने ही देशों ने अपने साहित्य, संस्कृति और कला के बचाने के लिये अपनी जान की बाजी लगा दी थी पर जुल्मों को बचाने के लिये, अत्याचार की सीमा को बढ़ाने के लिये ब्रिटेन का यह अपने ढंग का अनोखा प्रयत्न था। जुल्मों की देन ही क्या है— खून-खराबी, मार-काट, दुख-दर्द। ब्रिटेन समझता था कि जुल्मों से डर पैदा होगा और डर से शासन चलेगा। उसे क्या मालूम था कि जुल्मों से जो खून गिरता है, जिस जमीन पर यह जनता का खून गिरता है वहाँ शोले पैदा हो जाते हैं। भारत में भी यह शोले पैदा हुए। जलियांवाले बाग में भले ही ४०० भारतवासी मरे हों, उस घिनौने दृश्य को देखने वाले भले ही हमारे आपके बीच आज न हों, पर उस हत्याकांड को सुनकर हमारे पिता का जितना खून खौला था उससे कहीं अधिक क्रोध हमारे बच्चों के खून को ललकारेगा। मिट्टी का पुतला अपने समय पर ही मिट्टी में मिलता है। यदि समय से पहले उसे कोई नष्ट कर देता है तो उस मिट्टी का जर्रा जर्रा आने वाली नई सन्तान से अपना कर्जा मांगता है। उनकी आत्मा सजग होकर मानव के खून का बदला लेने को तड़प उठती है। शोलों का

इतिहास सदा ऐसा ही रहा है।

उस समय तक यह सब बातें किसी को न मालूम थीं। कारण पंजाब के बाहर खबरों का आना जाना बन्द था। कांग्रेस को इस हत्याकांड का पूरा पता उस के अधिवेशन में लगा। यह अत्याचार सभी जगह दुहराये गये। कर्नल जानसन, स्मिथ, कर्नल ओब्रीन के कार्य खून को खौला देते हैं। गुजरान वाला में बम गिराये गये, २५५ बार गोलियाँ चलाई गई। ब्रिटिश सरकार का कथन है कि इस बमबाज़ी से केवल ९ व्यक्ति मरे और १६ घायल हुए। खुले आम लोगों के बेंत लगाये जाते थे। जो फोटो इस समय मौजूद हैं उन से स्पष्ट है कि यह लोग घुटने तक नंगे कर दिये जाते थे और तार के खंभों से बांध दिये जाते थे। एक सैनिक आज्ञा हुई कि स्कूल के बच्चे दिन में तीन बार झंडे को सलाम करने आयें। यह आज्ञा ५-६ वर्ष के बच्चों के लिये लागू थी। ब्रिटिश सरकार यह मानती है कि कुछ बच्चे लू लग जाने से बेहोश हो गये थे। यह कहा जाता है कि कुछ बच्चे मर भी गये थे।

कांग्रेस मिली। प्रस्ताव हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द, पंडित मोतीलाल नेहरू और पंडित मालवीय को इन अत्याचारों की जांच करने पंजाब भेजा गया। इधर सरकार ने हंटर कमेटी बनाई जिस में कांग्रेस का कोई सदस्य न था। कांग्रेस की कमेटी ने निर्णय किया कि—"जनरल डायर ने हंटर कमीशन के सामने जो बातें मानी हैं उनसे स्पष्ट रूप से यही निष्कर्ष निकलता है

कि १३ अप्रैल का उस का कार्य पहले से आयोजित बालकों तथा सीधे सादे स्त्री पुरुषों की हत्या करना था। इस तरह अयरता से भरी हुई निष्ठुर हत्या संसार के इतिहास में अभी तक नहीं हुई।”

अमृतसर में दिसम्बर के अन्त से जो कांग्रेस हुई वह बहुतों के लिये तीर्थ यात्रा का स्थान बन गया। जलियाँवाले बाग में कांग्रेस सप्ताह में सहस्त्रों सदस्य और दर्शक आये। कुछ लोगों ने जिस धरा पर शहीदों का खून गिरा था उस मिट्टी को माथे से लगाया। कुछ उस मिट्टी को अपने साथ ले गये।

लोकमान्य तिलक भी इस अमृतसर के अधिवेशन में कांग्रेस की आखरी बैठक में आये हुए थे। इस अधिवेशन में अली-बन्धु भी जेल से सीधे आये थे। जब वह कांग्रेस पंडाल में आये तो सब लोगों ने बड़े ज़ोर से उनका स्वागत किया। वह मंच तक गये और लोकमान्य आदि के सामने झुक कर बैठ गये। मुहम्मद अली ने कहा कि छिनदनवारा जेल से हम ‘वापसी टिकट’ लेकर आये हैं। स्वामी श्रद्धानन्द ने अलीबन्धुओं के नाम पर और हिन्दू मुस्लिम एकता पर नारे लगाये। कांग्रेस में जनता की इतनी श्रद्धा देखकर सरकार घबड़ा गई। विचिलित हो गई। इस राष्ट्रीय वातावरण को भंग करने के लिये उसने सुधार-बिल को शीघ्रता से संसद के सामने रक्खा। और २४ दिसम्बर १९१९ को सरकारी घोषणा हो गई।

ब्रिटिश सरकार के दिये हुए सुधार को तिलक और दास ना-

मंज़ूर करना चाहते थे। वह इन सुधारों को 'अपर्याप्त, असंतोषजनक, और निराशाजनक' कहना चाहते थे। दास के इन सुधारों को नामंज़ूर करने के प्रस्ताव को पेश करने पर गांधी उसमें संशोधन करने के लिए खड़े हुए। ५ घंटे निरन्तर विवाद करने के बाद गांधी, दास, तिलक, पाल और मालवीय एकता पर आये। भारत सरकार का १९१९का ऐक्ट मंज़ूर किया गया जिससे कि उत्तरदायी शासन मिलने में सहायता मिले। तिलक ने कहा—"हम स्पष्ट रूप से यह कह देना चाहते हैं—केवल यहीं नहीं, सारे संसार के सामने—कि हम इस एक्ट से संतुष्ट नहीं हैं। हम अपना आंदोलन जारी रक्खेंगे।"

प्रकांड पंडित

तिलक लेखक पहले थे और राजनीतिज्ञ बाद में। यदि वह भारत माँ की दयनीय दशा देखकर राजनीति की ओर न खिंचे होते तो हमारे साहित्य संसार को अनेकानेक ग्रंथ मिल गये होते। तिलक के मुख से निकले हुए यह उदगार सैकड़ों व्यक्तियों ने सुने होंगे—"मेरी हार्दिक इच्छा पर विचार किया जाय तो वह प्रोफेसर बन कर ग्रन्थ निर्माण करने की ही जान पड़ेगी क्यों कि मुझे परिस्थिति के अन्याय से राजनैतिक क्षेत्र में उतरना पड़ा या सम्पादक बनना पड़ा है।"

तिलक ने प्रो० मैक्समूलर को भेजे हुए पत्र में लिखा था कि मैं अवकाश के समय को वैदिक संस्कृति और साहित्य के संशोधन में व्यतीत किया करता हूँ।

बाल्यावस्था में अपने पिता से प्राप्त किये हुए भगवत गीता और वेद विद्या विषयक ज्ञान के अंकुर उनमें सन् १८६० में दिखाई देने लगे थे। इस वर्ष उन्होंने वेद काल निर्णय संबंधी जो एक सिद्धान्त अपने मन में निश्चित किया यही आगे चलकर "ओरायन" नामक एक छोटे से ग्रन्थ के रूप में उनके द्वारा प्रतिपादित हुआ।

किन्तु वेदकाल निर्णय ऐसा विषय न था जो इस एक पुस्तक में किये गए विवेचन से समाप्त हो जाता। अतएव इसके दस वर्ष बाद सन् १९०३ में 'आर्य लोगों के मूल वसित स्थान' पर उन्होंने जो दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित किया वह काल क्रम से अगला

होते हुए भी मुख्य विषय की दृष्टि से भिन्नता ही सिद्ध होता है। तिलक ने प्रस्तावना में भी लिखा है कि एक ग्रन्थ दूसरे का पूरक है।

तिलक ने सिद्ध किया कि ओरायन ग्रीक शब्द है और वैदिक अग्रहायण से निकला हुआ है। इसके बाद वैदिक कालीन जनता के ज्योतिष विषयक ज्ञान का दिग्दर्शन कराते हुए यह दिखलाने के लिए कि उस समय वसंत संपात मृगशीर्ष नक्षत्र में था प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप ऋगवेद की एक ऋचा और एक सम्पूर्ण सूत्र का विवेचन किया गया है। अंत में वसन्त संपात के इससे भी आगे पुनर्वसु नक्षत्र में होने को लेकर यह सिद्ध किया गया है कि ये अनुमान अन्य बातों से एक दम विरुद्ध हैं। इस नवीन सिद्धान्त ने पाश्चात्य विद्वानों में बड़ी ही खलबली मचा दी।

यदि ओरायन अधिक अकाट्य युक्तियुक्त है तो आर्कटिक होम अधिक मनोरंजक और उदबोधक है। पहला ग्रन्थ सामान्य पाठकों को कुछ रुक्ष प्रतीत होता है किन्तु दूसरे में अनेकानेक सुन्दर कल्पना होने से यह ग्रंथ अत्यन्त मनोरंजक और ज्ञातव्य हो जाता है।

तिलक जानते थे कि राष्ट्रीय शिक्षा न होने के कारण देश अंधकार के गर्त में पड़ा हुआ है। इसी लिये वह भारतवासियों को अपने अतीत का गौरव स्मरण दिलाते रहते थे। वेद काल में कितना बढ़ा चढ़ा था हमारा भारत ! छांदोग्य उपनिषद के इस श्लोक से स्पष्ट है कि उस समय हमारे पाठ्य क्रम में कितने

विविध-विषय पढ़ने पड़ते थे—

"ऋग्वेदं भगवो ऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं
चतुर्थमितिहास पुराणं पचम वेदानां वेदं
पित्र्यं राशि दैवं निधि वाकोवाक्य मेकायनं
देव विद्या ब्रह्म विद्या भूत विद्या क्षत्रविद्यां नक्षत्र-
विद्यां सर्पदेवजन विद्यामेतद्भगवो ऽध्येमि।"

इसी लिये तिलक बराबर राष्ट्रीय शिक्षा पर जोर देते रहे।

जब कि पाश्चात्य विद्वान वेद का समय २००० संवत पूर्व ईसा के रख रहे थे तिलक ने उनका समय ४५०० संवत पूर्व ईसा रक्खा। उन्हें अपने अन्वेषण का रहस्य गीता के इस श्लोक से मिला—

"मासानां मार्गशीर्षोऽहम ऋतूनां कुसुमाकरः।

अर्थात मैं महीनों में मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में बसंत हूँ।

आर्कटिक होम को जेल में लिखने के बाद तिलक ने गीता रहस्य को मांडलेय की जेल में लिखा। तिलक के अनुसार गीता कर्त्तव्य पथ पर मनुष्य को अग्रसर करती है। तिलक ने अपने गीता-रहस्य में शंकराचार्य के सन्यास के मत को नष्ट किया। अब तक हमारे ऋषियों ने सदा इसी बात पर जोर दिया था कि यह संसार मिथ्या है। कर्म आत्मा पर एक बोझ है और मोक्ष के लिये सन्यास ही सर्वोत्तम है। माना कि इस सन्यास से कुछ लोगों को ब्रह्मज्ञान तक हुआ। पर इसका एक बुरा प्रभाव भी पड़ा। लोग जीवन से उकताने लगे, अकर्मण्य होगए और

किसी तरह जीवन व्यतीत करने में अपना धर्म समझने लगे।

तिलक के लिये जीवन में संघर्ष था, फिर भी वह जीवन धन्य था। संसार मिथ्या न था। उसमें कर्म था और उस कर्म का महत्व था। वह कर्म से अपनी आत्मा को ऊँचा उठाना चाहते थे।

उन्होंने प्राचीन साहित्य के अनेक उदाहरण रखकर यह दिखाया कि गीता का मुख्य भाव जीव को कर्म की ओर प्रवृत्ति करना है—विद्या और भक्ति का सहारा लेकर, त्याग या सन्यास का नहीं। योग केवल सन्यासियों की सम्पत्ति नहीं है। तिलक ने बताया कि हम और आप भी योग कर सकते हैं।

गीता रहस्य केवल टीका नहीं है। यह एक मौलिक कृति है। इस में कर्म का विश्लेषण किया गया। तिलक आदर्श जीवन को वास्तविकता के पास लाना चाहते थे और लाये। वह एक यथार्थवादी थे। आध्यात्मिक होते हुए भी वह सांसारिक थे। उनका कहना था कि तुम केवल लौ को नहीं सँभाल सकते जब तक कि बत्ती हाथ में न लोगे।

वर्षों तक जिस वैराग्य वृत्ति ने हमें और हमारे धर्म को घेर रक्खा था तिलक ने उस से हमें झकझोरा, जगाया। तिलक ने लोक संग्रह की भावना जगाई। लोक सेवा और लोक संग्रह का यह भी अर्थ नहीं कि स्वयं भूखे मर कर सेवा करो। इसका केवल यही अर्थ है कि पेट भरना या पेट भरने के [illegible] अन्न मत्र्य का संग्रह करना सहायक बात है,

मुख्य बात है सेवा।

अरविंद ने गीता रहस्य पर लिखा—

"एक अकेली यह पुस्तक सिद्ध करती है कि यदि उन्होंने अपनी शेष शक्ति इस दिशा में लगा दी होती तो मराठी साहित्य और आचार-विचार के इतिहास में वह अपना बड़ा स्थान रख लेते। कितने सूक्ष्म और ग्राह्य थे उनके विचार, कितनी प्रभावोत्पादक और परिपूर्ण थी उनकी शैली।"

राष्ट्रपिता गांधी ने गीता रहस्य पर कहा—

"अपनी अतुलित बुद्धि और विद्वत्ता से तिलक ने गीता के ऊपर एक महान टीका लिखी। उनके लिये गीता अनेकानेक सत्यों का सदन था जिस पर उन्होंने अपना मष्तिष्क चलाया। मेरी समझ से उनकी गीता की टीका उनकी स्मृति का एक स्थायी स्मारक होगी जो स्वतंत्रता संग्राम के सफल होने के बाद भी अमर रहेगी।"

राजनीतिज्ञों का सम्राट

राजनीति एक जोशीला झरना है जिसके किनारे न कभी बने हैं न बनेंगे। इस में सैकड़ों-हजारों लहरें आती हैं मिटती हैं बनती हैं। यह एक उफान है जिस का अस्तित्व उफनने में है। तिलक की सदा से यह चेष्टा रही थी कि इस झरने का पानी अलग अलग न बहे। मिल कर बहे। कम से कम राष्ट्रीय धाराएँ तो एक हो कर बहें। प्रारम्भ से ही वह नरमदल के साथ कदम मिला कर चलना चाहते थे। सन् १८९६ में उन्होंने केसरी में लिखा—

"कानून की मर्यादा हर एक को पालन करनी पड़ती है किन्तु उस में प्राप्त होने वाली स्वतंत्रता का कहाँ तक उपयोग किया जाय इसी एक बात में मत भेद हो सकता है। नरमदल के लोग वर्त्तमान स्थिति को ही अच्छा बतलाकर संतोष कर लेते हैं किन्तु केसरी तो उसे हर समय असतोष कारक ही बतलाएगा। इतने पर भी ऐसे कितने ही काम हैं जिन्हें यह दोनों मिलकर कर सकते हैं। और यदि उन कामों को यह करें तो जनता का एक बहुत बड़ा हित साधन हो सकता है।"

तिलक की धारणा थी कि यदि पूना में मतभेद और दलबन्दी न होती तो उस पर इस तरह आफत के बादल न आने पाते। यह विरोधी शक्तियाँ जो उनके ही नगर की थीं उन की ही जाति की थीं शुरू से ही उनके पीछे लगी रहीं।

तिलक लोक सत्तावादियों में भी सर्वोपरि थे। वह राजनीति को वर्ग विशेष से जनता में लाये। पांडिचेरी के संत अरविन्द तिलक के लिये लिखते हैं:—"भारतवर्ष के किसी भी प्रसिद्ध व्यक्ति ने अपने देश के लिये इतनी यातना नहीं सही, त्याग और दुख को इतनी शांत पूर्वक और अनायास नहीं सहा।……… उनका नाम तब तक कृतज्ञता पूर्वक स्मरण किया जायगा जब तक देश को अपने अतीत पर गौरव है और भविष्य पर आशा है।" (४-८-१९५० के 'मराठा' से)

स्वतंत्रता संग्राम छेड़ने के पहले तिलक ने अपने जीवन काल में भारत को स्वतंत्र करने के लिये एक प्रोग्राम बनाया था। वह उस पर चलते रहे, पर देश उनके साथ न चल सका। वह समय की गति को पहिचानते थे पर देश उनकी गति को न पहिचान सका। इस का एक उदाहरण सुनिये—

सन् १९०४ में तिलक कांग्रेस मंडल को विलायत भेजने के प्रस्ताव पर बोले थे। पर जब सन् १९१७ में विलायत में मंडल भेजने का प्रश्न उठा तो तिलक ने उस का विरोध किया। इन बारह वर्षों में बहुत अन्तर हो चुका था। उन्होंने कहा—'अब समय आया है जब कि एक राजनैतिक मंडल विलायत में स्थायी रूप से स्थापित किया जाय।"" "हम लोगों को अपनी बनाई हुई सीमा को आप पार करना है। हमारे आरम्भ के प्रयत्न घरेलू और बिखरे हुए थे। फिर वह प्रान्तीय और राष्ट्रीय हुए। अब समय हुआ है कि हम जीवन और विचार की

अन्तर्राष्ट्रीय धाराओं में कूद पड़ें। अपने उद्देश्य की पूर्ति कर संसार को दिखा दें कि भारत केवल राष्ट्रीय जीवन की चरम सीमा पर नहीं पहुँचना चाहता वरन अन्तर्राष्ट्रीय चोटी पर भी पहुँचना चाहता है।"

आज लोकमान्य का स्वप्न सच्चा हुआ है। आज नेहरू उस अन्तर्राष्ट्रीय चोटी पर पहुँचने की चेष्टा कर रहे हैं। भारत की उमंगों में किन किन गुणों का प्रादुर्भाव है और किन किन नवीन रश्मियों को अभी फूटना है, इसका लोकमान्य को कितना अच्छा आभास था। आज उन का एक एक शब्द नये फूल की तरह नये नये गुणों को लेकर प्रस्फुटित हो रहा है।

लोकमान्य इतने लोकप्रिय कैसे हुए इसका उत्तर लाला दुलीचन्द के मुख से सुनिये—"जब मैंने कांग्रेस अधिवेशन में लोगों से पूछा कि क्या कारण है कि तिलक फीरोज़शाह मेहता और गोखले से भी अधिक लोकप्रिय हैं तो उन्होंने कहा कि जब कि मेहता और गोखले यहाँ बँगलों में ठहरते हैं तिलक अपने सबसे छोटे साथी के साथ चटाई पर पड़ रहते हैं।"

कितना बड़ा भेद बतला दिया लालाजी ने? पर कितने हैं जो इस भेद को नहीं जानते? और उसमें से भी कितने ऐसे हैं जो यह भेद जानकर भी अमल नहीं कर पाते?? इतनी प्रतिष्ठा, इतना यश, इतने भक्त—और फिर चटाई पर सोना। उस समय उदारता का भी खुशी के मारे सीना फूल गया।

ब्रिटेन की नीति से तिलक असंतुष्ट थे क्योंकि जनता

असंतुष्ट थी। ब्रिटेन की नीति पर तिलक को विश्वास न था क्योंकि जनता को विश्वास न था। मेरे इस कथन की पुष्टि 'मेनचैस्टर गार्जियन' के वौकर साहब करते हैं। वह २६ नवम्बर १६१७ को मोन्टेगू से दिल्ली में मिले। मोन्टेगू अपनी डायरी में लिखते हैं:—"वौकर ने मुझसे कहा कि किसीको विश्वास नहीं है कि हम लोग सच्चे हैं। किसी को विश्वास नहीं है कि हम लोग कुछ भी करेंगे।......उसने कहा कि भारत वासी मुझे अपना हितैषी समझते हैं, पर उनका यह दृढ़ विश्वास है कि विलायत का मंत्रिमंडल मुझे कुछ भी न करने देगा।"

इस समय एक अंग्रेज दूसरे अंग्रेज से बोल रहा था। दो भाई आपस में कानाफूँसी कर रहे थे। वह मुसीबत में थे। परेशान थे। दोनों एक दूसरे की सहायता करना चाहते थे। इस लिये एक ने जो कुछ भी दूसरे से कहा उसमें सत्य ही सत्य था। मजबूरी में ही मनुष्य सच बोलता है। आज वह मजबूर थे। आज मैनचेस्टर गार्जियन जैसे ख्याति प्राप्त पत्र का वौकर सच बोलने पर उतर आया था। उसे क्या मालूम था कि मोन्टेगू के बाद उस की डायरी प्रकाशित हो जायगी। आप भी परेशान होंगे कि आखिर क्या थे वे विचार जिनके लिये मैं इतना सिर हो रहा हूँ। लीजिये वौकर के ही मुँह से सुनिये। उन्होंने सेक्रेटरी आफ स्टेट मोन्टेगू से कहा—"भारतवासी गुलामी करते करते थक गये हैं, परेशान हो गये हैं। वे अपना सिर आदमी की तरह रखना चाहते हैं। अपने मार्ग में स्वतंत्र होकर इज्जत

के साथ चलना चाहते हैं। वह गोरों के गुलाम होकर नहीं जीना चाहते — ऐसे गुलाम जिनका धर्म अपनी इज्जत खोकर अपने शासक की आज्ञा मानना है।"

पं० मदनमोहन मालवीय ने वर्षों तिलक के साथ कार्य किया था। १९१६ की लखनऊ कांग्रेस में मुसलमानों के प्रश्न पर उन्होंने तिलक का विरोध किया था। उन्होंने तिलक को, उनके व्यक्तित्व को पास से देखा और समझा था। उनके बारे में उन्होंने कहा—"अंग्रेज़ों की नीति को जैसा वे समझते थे वैसा और नेताओं में से बहुत कम पुरुषों ने समझा था।"

यह शब्द मालवीय जी के थे जो स्वयं एक महान राजनीतिज्ञ थे। जो वर्षों स्वयं ब्रिटिश नीति को पढ़ते रहे, और वर्षों उससे लड़ते रहे। तिलक का यह पूर्ण विश्वास था कि भारत हर प्रकार से स्वाधीन होने योग्य है। उनका यह विश्वास ठीक था, वह आज सिद्ध हो चुका है।

ब्रिटेन प्रत्येक वायसराय को भारत भेजने के पहले भारतीयों से घृणा करने का पाठ पढ़ा देता था। उन्हें इस बात की ट्रेनिंग दी जाती थी कि वायसराय के पद पर आकर किस तरह से सोचें, किस तरह से बोलें और भारतीयों के साथ किस तरह का व्यवहार करें। सामंतशाही के आदर्शों का अपना एक अलग फरमा था जिस में हर वायसराय का मष्तिष्क ढाला जाता था। इस का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि हर वायसराय के अन्तरंग और बहिरंग दो विचार रहे।

चाहे मिन्टो को देख लीजिये, या कर्ज़न को या चेम्सफर्ड को। हर नया वायसराय सामंतशाही के नये जोश को लेकर आता था। कर्ज़न तो यहाँ तक बढ़ गया कि उसने कहा:—"ब्रिटिश को भारत में भगवान ने राज्य करने भेजा है।"

कितनी भयानक हवस को कितना सुन्दर आवरण पहिना दिया! भारतीय परम्परा में भगवान का निर्विवाद स्थान देख कर ब्रिटेन अपनी कुटिल राजनीति के दूषित क्षेत्र में भगवान को भी खींच लाया!! सौ वर्ष पुराना राज्य न जाये चाहे अपनी मर्यादा-चली जाये। भले ही कर्ज़न औरंगज़ेब से दो सौ वर्ष बाद हुआ पर दोनों का राजनैतिक स्तर एक सा था। ब्रिटिश सरकार की यह नीति रही थी कि वे दस वर्ष में जो कुछ सुधार करती, ग्यारवें वर्ष में वह सुधार और उससे कहीं अधिक, वापस ले लेती थी। फिर पच्चीसवें वर्ष में वही मांग जनता की चीख-पुकार करने पर नया वेश देकर, एक नया रूप देकर दे देते थे। इस प्रकार यह सुधार और अत्याचार, मृदुलता और कर्कशता का चक्र चलता रहता था!

मैं इस बात को सप्रमाण कहने को तैयार हूँ कि ब्रिटिश न्याय ब्रिटिश नीति के इशारों पर चलता था। जब जब न्याय अपने कानून की कमज़ोरी में आप उलझ गया है तब तब तिलक ब्रिटेन के कुटिल न्याय से अपने आपको बचा ले गये पर जहाँ न्याय को ज़रा भी सोचने का अवस

मिला ब्रिटिश नीति उन पर लागू हुई । मिन्टो ने सेक्रेटरी आफ स्टेट मोर्ले को १६ जुलाई १९०८ को जो पत्र लिखा उससे स्पष्ट है कि १६ जुलाई को ही वायसराय ने तिलक को सजा अवश्य मिलेगी इसका निर्णय कर लिया था, जब कि जज का फैसला २२ जुलाई १९०८ को सुनाया गया। इस पत्र में मिन्टो लिखते हैं: "मैं समझता हूँ कि तिलक को इतनी कड़ी सजा दी जायगी कि मराठे बिदक जावेंगे और फिर नरमदल वालों से मिलकर चलने को तैयार न होंगे। मैंने दोनों लेख पढ़े हैं, जो साधारण ढंग से अभियोग चलाने के लिये बुरे जरूर हैं, पर इतने बुरे नहीं हैं कि उनपर अभियोग चलाना अनिवार्य ही हो। यदि साधारण राजनैतिक स्तर पर से देखा जाय तो उन पर अभियोग बनता ही नहीं है।"

अभियोग न बनते हुए भी तिलक को ६ साल की सजा हुई। और यह नीति आरंभ से ही अपनाई गई थी। तिलक की पहली जेल पर अंग्रेज इतिहासकार फ्रेजर लिखते हैं:—

"इस में कोई सन्देह नहीं कि जिन शब्दों के लिये तिलक पहली बार जेल भेजे गये वह इतने साधारण थे कि आज कोई जूरी उन्हें उसके लिये जेल नहीं भेजेगा।"

और फ्रेजर उन इतिहासकारों में से थे जिन्होंने अपने ४९१ पृष्ठ के इतिहास "कर्जन और उनके बाद का भारत" में तिलक का नाम केवल एक बार लिया है। और वह भी रैन्ड की हत्या के सिलसिले में, केसरी द्वारा लोगों के भड़काने के आरोप में।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इस महान आत्मा को स्मरण करने का इस योरोपीय इतिहासकार को और कोई अवसर या स्थान ही नहीं मिला।

ब्रिटेन की नीति में कूटनीति का अंश अधिक था। ब्रिटेन कहता कुछ था और करता कुछ था। इसी कारण ब्रिटेन के प्रायः सभी वायसराय अवकाश प्राप्त करने पर आड़े हाथों लिये गये। सर्व शक्तिमान लोकमत से बचने के लिये ब्रिटेन अपने वायसरायों की बलि देने को तैयार हो गया। क्लाइव को अपने बचाव में ऐसे सफाई देनी पड़ी जैसे एक चोर या डाकू देता है। हेस्टिंग्स पर वर्षों अभियोग चलता रहा जिसमें उसकी सारी सम्पत्ति निकल गई। डैलहौजी पर किया हुआ सन्देह, उस पर किये हुए आरोप उसकी मृत्यु तक चील-कौओं की तरह उसके ऊपर मंडराते रहे। कैनिंग इतना निकम्मा सिद्ध हुआ कि जब सन् सत्तावन के गदर के बाद ब्रिटेन की लोक सभा ने अपने वायसरायों के लिये धन्यवाद सूचक शब्द कहे तो उसमें उस का नाम जान बूझ कर छोड़ दिया गया था। मैं पूछता हूँ कि क्या ब्रिटेन के हाथ इतने कमज़ोर थे, जो वह वायसरायों के सामने ऐसे बांध न बांध सका जिससे उनकी अनीति, उन का स्वार्थ रुक सके। क्लाइव के विरुद्ध जिन बातों पर उँगली उठाई गई थी वही बातें डैलहौजी के विरुद्ध भी आईं। क्लाइव और डैलहौजी के समय में सौ वर्ष का अन्तर था। पर दोनों की हवस में, दोनों के स्वार्थ में कोई अन्तर न था। क्लाइव के मुँह में

सामंतशाही का जो मूल लग गया था वही मूल इसहोजों के मुंह में लगा था। हम यह मानने को तैयार नहीं कि ब्रिटेन की नीति इतनी निकम्मी और खोखली हो गई थी कि सौ वर्ष पहले क्लाइव की जिन जिन कमजोरियों पर आक्रमण किया गया वह कमजोरियाँ ब्रिटेन की पूरी कोशिश करने पर भी सौ वर्ष तक जैसी की तैसी बनी रहीं। बात कुछ और थी। इन कमजोरियों को ब्रिटेन की नीति से अप्रत्यक्ष रूप से बल मिलता रहा। वह ब्रिटिश नीति पर अवलंबित थीं। बीमार कोई और था और इलाज किसी और का हो रहा था।

ब्रिटेन ने साम्राज्यवाद को बनाये रखने के लिये एक बहाना यह बना रक्खा था कि भारत स्वायत्त शासन के योग्य नहीं है। इसी राग को हर वायसराय ने अलग अलग स्वर में अलापा था। इस मिथ्यावादन को मिसेज़ बेसेन्ट ने मुँह तोड़ उत्तर दिया। अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष ने स्वाधीनता के लिये कैसे कार्य किया' में वह लिखती है:—

"भारत शासन के योग्य है इसका द्योतक है उस के पांच हज़ार वर्ष का राज्य। भारत के इतिहास को योरोप के इतिहास के साथ रखिये और बताइये कि क्या भारत इस तुलना पर शरमाता है। .... "अकबर की सहिष्णुता की तुलना मेरी के प्रोटेस्टैंट पर, एलिज़ाबेथ के कैथौलिक पर, और जेम्स और चार्ल्स के प्यूरिटन पर किये हुए अत्याचारों से कीजिये।

.... "आयरलैंड में रोमन कैथौलिक के विरुद्ध जो

कानून बनाये गये थे उन्हें पढ़िये फिर अंग्रेजों से पूछिये कि जिन्होंने यह कानून बनाये थे क्या वे राज्य करने के योग्य थे? और पढ़िये १८ वीं सदी में फ्रांस की भूख और गरीबी जिसका अन्त क्रांति में हुआ, जर्मनी का ग्रामीण युद्ध, इटली के निरन्तर युद्ध, हंगेरी और पोलैन्ड की अशान्त दशा और ब्रिटेन में हुए राजाओं के खून और क्रान्ति—और फिर बताइये कि क्या यह देश स्वराज्य के लिये भारत से अधिक उपयुक्त थे। पर वे जो अनुपयुक्त थे स्वराज्य लेकर पवित्र बन गये और शासन कर स्वराज्य के लिये उपयुक्त भी बन बैठे। भारत जो उन से कहीं अधिक उपयुक्त था, अनुपयुक्त ठहरा दिया।"

तिलक इस रहस्य को जानते थे। भारत के अन्दर सोई हुई शक्तियों को पहिचानते थे। उन्होंने वैधानिक कानून पढ़ा था। ब्रिटेन तथा अन्य राष्ट्रों का इतिहास पढ़ा था। राजनीति उनका प्रिय विषय था। वह उस पर एक मौलिक प्रबन्ध लिखना चाहते थे। दर्शन और विज्ञान के, संस्कृत भाषा और वैदिक साहित्य के वे विद्वान थे। राजनीति में एक विद्वान या तो बिल्कुल असफल रहेगा या उसे अभूतपूर्व सफलता मिलेगी। इस अभूतपूर्व सफलता के तिलक एक उदाहरण थे। इसी अभूतपूर्व सफलता के आज हमारे बीच में राधाकृष्णन दूसरे उदाहरण हैं।

आज से तीस वर्ष पूर्व अमरीका में 'यंग इंडिया' के सम्पादक डा० सन्डरलैंड ने तिलक के लिये यह वचन कहे थे—

"तिलक उतने सच्चे देश भक्त थे जितने कि अमरीका में

ब्राशिगटन या दक्षिणी अफ्रीका में जनरल बोथा। यदि जनरल बोथा दक्षिणी अफ्रीका के प्रधान मंत्री बन सकते थे तो तिलक के समान प्रतिभावान और महान व्यक्ति बम्बई, मद्रास, बंगाल या पंजाब के राज्यपाल क्यों नहीं बनाये गये? इन बड़े प्रान्तों में तिलक से योग्य तो कोई राज्यपाल न होता यदि केवल भारत दक्षिणी अफ्रीका के समान स्वाधीन होता।"

मैं उपरोक्त कथन से एक कदम आगे बढ़ने को तैयार हूँ। मेरा विचार है कि यदि तिलक को भारत की बागडोर दे दी जाती तो कितने वायसराय उन के सामने बौने बन गये होते। उन की विलक्षण प्रतिभा, अलौकिक विद्वत्ता, विशाल अनुभव, गहन अध्ययन, कर्म निष्ठता, निश्छल चरित्र और दूरदर्शिता से सैकड़ों नेताओं को वह मीलों पीछे छोड़ आये थे। उनके विरोधी गोखले ने उनके लिये कहा था—"यदि तिलक १२० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए होते तो वह अपने लिये एक राज्य स्थापित कर लेते।"

डा०, सीतारमैया ने अपने कांग्रेस के इतिहास में तिलक और गोखले की तुलना के बहाने तिलक के व्यक्तित्व को अच्छा आंका है। वह लिखते हैं—

"तिलक और गोखले दोनों महाराष्ट्री थे। दोनों ब्राह्मण थे। और दोनों चीतपावन जाति के थे। दोनों देश-भक्त थे। दोनों ने बड़े त्याग किये थे। पर उनके स्वभाव एक दूसरे से भिन्न थे। गोखले नरमदल के थे और तिलक गरमदल के। गोखले

वर्तमान विधान को सुधारना चाहते थे, तिलक उसे बदलना चाहते थे।' गोखले को सामंतशाही के साथ काम करना पड़ा, तिलक को उस से लड़ना पड़ा। गोखले का सहयोग में विश्वास था, तिलक का लड़ने में। गोखले का संबंध शासन से था, तिलक का अपने देश और उसके उत्थान से। गोखले का आदर्श प्रेम और त्याग था, तिलक का सेवा और सहनशीलता। गोखले की नीति विदेशी को जीतने वाली थी, तिलक की उनको बदलने वाली। गोखले दूसरों की सहायता पर निर्भर थे, तिलक अपने पैरों पर खड़ा होना जानते थे। गोखले वर्ग और शिक्षित समाज से प्रेरणा लेते थे, तिलक जनता और जन-समुदाय से। गोखले की कार्य करने की जगह विधान सभा थी, तिलक का गांव का मंडप। गोखले की भाषा अंग्रेजी थी, तिलक की मराठी। गोखले का ध्येय स्वायत्त शासन था जिसके द्वारा भारतवासियों को ब्रिटेन द्वारा रक्खी परीक्षाएँ पास करनी थीं, तिलक का ध्येय था स्वराज्य जो कि प्रत्येक भारतवासी का जन्म सिद्ध अधिकार है और जिसको वह विदेशियों से छीन लेंगे। गोखले अपने समय के साथ थे, तिलक अपने समय के बहुत आगे थे।"

इस राजनीतिज्ञों के सम्राट से साम्राज्यवाद पर अवलंबित ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार कांपती थी। ब्रिटेन ने अपनी अनीति का जो कदम उठाया तिलक उनकी काट पहले ही रख दिया करते थे जैसे उन्हें पहले ही मालूम था कि ब्रिटेन अब क्या करेगा। इतने कुशल थे तिलक चाणक्य शास्त्र में।

सन् १९५५ में मद्रास महाराष्ट्रीय मंडल के तिलक जयंती के अवसर पर बोलते हुए पतंजलि शास्त्री ने कहा :—

"स्वराज्य के पूर्व राजनीति में तिलक का जो स्थान था वह किसी को न मिल सका, और संभवतः महात्मा गांधी को छोड़ कर कोई भी भारतीय नेता उन से आगे न बढ़ सका।"

विट्ठल भाई पटेल के इन शब्दों के साथ साथ मैं भी इस महान आत्मा को अपनी श्रद्धांजलि देते हुए इस पुस्तक को समाप्त करता हूँ—

"लोकमान्य तिलक का व्यक्तित्व महान था। राजनीति को, आरामकुर्सी वाले राजनीतिज्ञों के कमरों से जनता तक ले जाने का श्रेय लोकमान्य को ही है। उनकी उँगली राष्ट्र की नाड़ी पर थी। वह जानते थे कि स्वतंत्रता-संग्राम में त्याग और कष्ट झेलने की क्षमता जनता में कितनी है। इस लिये उन्होंने राष्ट्रीय-आन्दोलन को आगे बढ़ाया, अपने हाथ में रक्खा और आवश्यकतानुसार कम ज्यादा किया। वह सही शब्दों में भारत के निर्माता थे।"